संस्कृत काव्य शास्त्र एवं काव्यांग

(रस, अलंकार, छंद)

डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल

संस्कृत काव्यशास्त्र एवं काव्यांग

(रस, अलंकार, छन्द)

डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

अरिहन्त प्रकाशन, जोधपुर

ISBN : 978-93-84406-63-9

प्रथम संस्करण 2019

☐

मूल्य: ₹ 400.00 (चार सौ रुपये मात्र)

☐

प्रकाशक :

अरिहन्त प्रकाशन

प्रकाशक एवं वितरक

राजू साड़ी के ऊपर
सोजती गेट के बाहर, जोधपुर-342001
Ph: 0291-2657530 (0)

☐

अरिहन्त प्रकाशन के लिए कम्पोजिंग समीर कम्प्यूटर, मुद्रक- भारत प्रिण्टर्स, जोधपुर

☐

Sanskrit Kavya Shastra Evam Kavyang
By **Dr. Priti Prabha Goel**
Arihant Prakashan, Sojati Gate,
Jodhpur (Raj.) INDIA
First Edition : 2019 Price ₹ 400.00

अपनी बात

मानव जीवन को अधिक सुन्दर, अधिक रसमय तथा अधिक उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण कर देने में साहित्य का अपूर्व महत्व है। साहित्य की कोई भी विधा हो- उत्तम काव्य, उत्तम नाटक, उत्तम कथा- प्रत्येक ही श्रोता अथवा पाठक के हृदय को रससंवलित करके आत्म-पर विस्मृति की दशा में पहुंचा देते हैं। ऐसे साहित्य का मर्म समझाने वाला साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र ही है। काव्य के अच्छे-बुरे का उद्घाटन काव्य ही कर पाता है, क्योंकि वह शास्त्र ही साहित्य किंवा काव्य के सभी तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है।

यह ज्ञात एवं स्थापित तथ्य है कि साहित्य पहले रचा गया और उसीं के आधार पर बाद में उसके शास्त्र की रचना हुई। संस्कृत में वेदों से लेकर निरन्तर ही ग्रन्थों में काव्यात्मक सौन्दर्य के अनेकानेक स्थल हैं। रामायण, महाभारत, कालिदास की रसपेशल रचनाएं, अश्वघोष आदि की कृतियां काव्यशास्त्र-विचार चर्चा से पूर्व लिखी जा चुकी थीं। काव्यशास्त्र की किंचित् चर्चा भी यास्क के निरुक्त'से प्रारंभ हो गई थी।

प्रस्तुत पुस्तक अलंकार शास्त्र किंवा काव्यशास्त्र के इतिहास से ही सम्बद्ध है। पुस्तक के दो खण्ड हैं। प्रथमत: अलंकारशास्त्रीय विषयों के विवेचन के पश्चात् काव्यशास्त्रीय आचार्यों में भरत से लेकर विश्वेश्वर पांडेय तक लगभग सभी प्रमुख आचार्यों के ज्ञात जीवनवृत्त, समय, रचनाएं और वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है। इन आचार्यों में नाट्यशास्त्रीय आचार्यों को ग्रहण नहीं किया गया और न ही कतिपय ऐसे आचार्यों को, जिन्होंने ग्रन्थ रचना तो की; किन्तु किसी भी विषय में नवीन उद्भावना नहीं की।

द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम रसविचार हुआ है। तदनन्तर अनेक प्रमुख अलंकारों

और उनके भेदों को सोदाहरण स्पष्ट किया गया हैं। इनमें भी अनेक ऐसे अलंकारों को छोड़ दिया गया है जो अधिकांश प्रयुक्त नहीं हुए हैं और आचार्यों के पाण्डित्य मात्र को प्रदर्शित करते हैं। इस खण्ड के अन्त में छन्द विचार के अन्तर्गत प्रमुख छन्दों के लक्षण देकर उन्हें उदाहरणों पर घटित किया गया है।

पुस्तक के नाम को लेकर तनिक विप्रत्तिपत्ति रही। प्रस्तुत शास्त्र के नाम के सम्बन्ध में जितने भी तर्क वितर्क हुए या विभिन्न नामकरण हुए- उन सबका विवेचन विषय प्रवेश में सुष्ठुतया कर ही दिया गया था। अलंकारशास्त्र नाम अधिक प्रचलित होने पर भी पुस्तक का नाम 'काव्यशास्त्र तथा काव्यांग' रखना ही सुरुचिपूर्ण लगा। इस नाम में पुस्तक का सम्पूर्ण विषय समाहित हो जाता है।

संस्कृत काव्य शास्त्र विषय पर कुछ मूर्धन्य विद्वानों ने भी ग्रन्थ लिखे हैं। इस पुस्तक की रचना वस्तुत: इस विषय को सरल तथा सुग्राह्य बनाने के लिए की गई है। संस्कृत के स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं के छात्र भी इससे लाभ उठा सकें और संस्कृत को बहुत अधिक न जानने वाले भी इस शास्त्र के मूलतत्त्वों को सरलता से हृदयगंम कर सके- यही भावना इस पुस्तक के लेखन की प्रेरणा बनी।

आशा करती हूं, मेरा यह प्रयास अपने लक्ष्य में सफल होगा। पुस्तक के लेखन में जिन ग्रन्थों का साहाय्य प्राप्त हुआ, उन स्वनामधन्य लेखकों के प्रति मैं नतशिरसा आभारी हूं। राजस्थानी ग्रन्थागार के प्रबन्धक श्री राजेन्द्र सिंघवी को पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन हेतु धन्यवाद तथा आशीर्वाद।

इति शम्

'आशीर्वाद' पावटा बी रोड
जोधपुर 342006

प्रीति प्रभा गोयल
मो. 9414129766

OOO

विषय सूची

द्वितीय खण्ड

विषय प्रवेश

विज्ञान हो किंवा साहित्य- उसको सम्पूर्णतः समझ सकने के लिए उससे सम्बद्ध शास्त्र का होना अत्यावश्यक है। साहित्य पर तो यह कथन अक्षरशः घटित होता है। साहित्य में काव्य हो या नाटक, कथा हो अथवा मुक्तक- उनके शास्त्र को जाने बिना हृदय को आनन्द की अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु उस रचना के गुण अथवा दोषों को नहीं जाना जा सकता। काव्य की विशिष्टता को जानने के लिए आलोचना जान सकना अनिवार्य है। हृदय में रसनिर्झरिणी प्रवाहित करके आत्म-पर को विस्मृत करा देने वाली रचना काव्य कहलाती है और काव्य का मर्म शास्त्र समझाता है। काव्य के अच्छे बुरे का उद्घाटन काव्यशास्त्री ही कर पाता है क्योंकि काव्य के समस्त तत्त्वों का विवेचन इसका शास्त्र ही करता है। यही आलोचना है।

संस्कृत में प्राचीनकाल से ही आलोचना के लिए अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं। इसका प्राचीनतम नाम '**क्रियाकल्प**' जान पड़ता है। वात्स्यायन ने अपने ग्रन्थ 'कामसूत्र' में गिनाई हुई 64 कलाओं में इसका भी निर्देश किया है। 'ललितविस्तर' नामक बौद्धग्रन्थ में भी 'क्रियाकल्प' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जयमंगलार्क नामक टीकाकार ने इस शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है-**क्रियाकल्प इति काव्यकरण विधिः काव्यालंकार इत्यर्थः**- अर्थात् यह शब्द काव्य रचना की विधि, या काव्यालंकार अर्थ वाला है। वाल्मीकि रामायण (उत्तरकाण्ड 94/7) में राम की राज्यसभा में लवकुश के गान को सुनने के लिए अन्य विशेषज्ञों के साथ **काव्यविद्** (काव्यरसिक) और **क्रियाकल्पविद्** (काव्यसौन्दर्य परीक्षक) भी एकत्रित हुए थे-

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

किन्तु काव्य के विधायक शास्त्र के रूप में यह नाम प्रचलित नहीं हो सका।

नवम शती में राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ (पृष्ठ 4) में इस शास्त्र को '**साहित्यविद्या**' नाम दिया- 'पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।' तदनुसार

सुन्दर अर्थ के वर्णन और उतने ही सुन्दर शब्द का साहित्य ही काव्य है और उसी समभाव सम्पन्न शब्द और अर्थ की मीमांसा होने के कारण काव्य के शास्त्र को साहित्यविद्या कहा। किन्तु 'क्रियाकल्प' के सदृश साहित्यविद्या नाम भी प्रचलन में नहीं आ सका।

संस्कृत में आलोचना का बहुत समय तक प्रचलित नाम '**अलंकारशास्त्र**' रहा। इसकी बहुत अच्छी व्याख्या डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत आलोचना' (पृ. 6) में की है। वे कहते हैं- 'इस शब्द के ठीक ठीक अर्थ को समझने की आज भी जरूरत है। पूछा जा सकता है कि क्या भारतीय आलोचना में केवल अलंकारों का (जैसे उपमा, रूपक, दीपक आदि का) ही विवेचन है? अलंकार तो कविता के अनेक शोभाधायक तत्त्वों में से अन्यतम ही होता है। ऐसी दशा में केवल अलंकारों का प्रतिपादक शास्त्र कहना क्या एकांगी नाम नहीं है? इसके उत्तर में हमारा यही निवेदन है कि यहां अलंकार शब्द का प्रयोग इस सीमित अर्थ में नहीं किया गया है। अलंकार का अर्थ दो प्रकार का होता है- (क) 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकार:' अर्थात् काव्य में शोभा के आधायक तत्त्व (संकीर्ण अर्थ); (ख) 'अलंक्रियते इति अलंकार:' अर्थात् काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ)। अलंकार को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलंकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्त्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है- **सौन्दर्यमलंकार:** अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने तत्त्व हैं उन सबका सामान्य अभिधान है- अलंकार। फलत: अलंकारशास्त्र का अर्थ है काव्य के शोभावर्धक तत्त्वों का प्रतिपादक शास्त्र; और इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ गृहीत होना चाहिए।''

व्यापक अर्थ के अतिरिक्त भी यदि 'काव्य में शोभा के आधायक तत्व' इस संकीर्ण अर्थ को भी ग्रहण किया जाए, तो भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्वपूर्ण हैं। साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था। तथा अलंकारों के गहन विवेचन से ही परवर्ती युग में अनेक तत्त्व उद्‌भूत हुए। इस विषय पर 'कुमारस्वामी का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि रस, ध्वनि, गुण, आदि तत्त्वों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य की दृष्टि से ही इस शास्त्र का नाम 'अलंकार शास्त्र' पड़ा। अर्थात् इस शास्त्र के आद्य युग में अलंकारों की ही महिमा काव्य में व्याप्त थी। उन्हीं का अध्ययन प्रधान रूप से इस शास्त्र में किया जाता था। इस शास्त्र के नामकरण का यही रहस्य है।'

ग्यारहवीं शती में भोजदेव ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' ग्रन्थ में (2-139) मुख्य रूप से अलंकारशास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' पद का प्रयोग किया। और पिछले कुछ शतियों में काव्यशास्त्र नाम ही रूढ़ हो गया है।

काव्य का उद्‌भव एवं विकास- यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि काव्य रचना पहले हुई और बाद में इन्हीं काव्यरचनाओं के आधार पर उनके शास्त्रों की रचना हुई। वैदिक युग से ही प्रारंभ करें तो ऋग्वेद के अनेक शास्त्रों की रचना हुई। वैदिक युग से ही प्रारंभ करे तो ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों मं विभिन्न अलंकारों और गुणों की सुन्दर छटा दृष्टिगोचर होती है। उषस् सूक्त अपने लालित्य और काव्य सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं- सुन्दर वस्त्रालंकार पहने हुए और वक्ष को खोले हुए एक नर्तकी के समान उषा सारे संसार को प्रकाश देती है और अपने गोष्ठ में जानेवाली गायों के समान गति करती है-

अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णते वक्ष उस्त्रेव वर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।।

ऋग्वेद- 1/164/20

डॉ. कृष्णकुमार ने अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया है कि 'ऋग्वेद में काव्यत्व का विकास केवल मुक्तक काव्य के रूप में ही नहीं हुआ, अपितु प्रबन्ध काव्य के रूप में भी इसके विकास के बीज उगने लगे थे। ऋग्वेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनमें कथानक के तत्त्व निहित हैं तथा जिन कथानकों का विकास उत्तरवर्ती युग में ब्राह्मणों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में देखा जा सकता है। ऋग्वेद में नदी सूक्त (3/33) में विश्वामित्र और नदियों का रोचक संवाद है; यमसूक्त (10/10) में यम और यमी का संवाद है; 10/108 सूक्त में सरमा और पणियों का संवाद हैं;... 1/179 में अगस्त्य, उसके शिष्य और लोपमुद्रा का संवाद है;........10/86 सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी और वृषकापि का संवाद है। इन संवादों की पृष्ठभूमि में कुछ कथानक निहित हैं तथा इन कथानकों का विकास उत्तरवर्ती साहित्य में हुआ है।'

सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों में भी काव्यात्मक रूप के दर्शन होते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेक काव्यमयी रचनाएं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक आख्यानों में उत्तम काव्य-रचना दृष्टिगोचर होती है। शतपथ ब्राह्मण की मनु-मत्स्य कथा, पुरुरवा-उर्वशी कथा आदि इसके उदाहरण है। शतपथ ब्राह्मण (1/2/5/16.) में नारी सौन्दर्य के जिस आदर्श को उपस्थित किया गया, उसको परवर्ती संस्कृत कवियों ने अपनी रचनाओं में यथास्थान मान्यता दी। ऐतरेय ब्राह्मण में शुन:शेप कथा (7/18/10) तथा सौपर्णाख्यान (3/25/1) भी प्राप्त होता है।

उपनिषद् मूलतः दार्शनिक रचनाएं हैं किन्तु छान्दोग्य, मुण्डक, कठ आदि उपनिषदों में उत्तम काव्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कठोपनिषद् (1/3/3.) के निम्नलिखित मन्त्र में रूपक अलंकार का लालित्य द्रष्टव्य है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव वा।।

उपनिषदों के उपरान्त लौकिक संस्कृत का युग प्रारंभ होता है और लौकिक संस्कृत की प्रथम रचना- रामायण- ही इतनी अधिक मनोहारी तथा सभी उत्तम काव्य-तत्त्वों से परिपूर्ण बनी कि वह सम्पूर्ण परवर्ती संस्कृत साहित्य के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बन गई। महर्षि व्यास रचित महाभारत को भी यही गौरव मिला। चाहे कावयगत उद्देश्य हो या काव्य-स्वरूप हो और या फिर विषय हो- आदिकाव्य रामायण में शास्त्रीय दृष्टि से काव्य के सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं। कल्पना की अतिशयता, वर्णन, प्राचुर्य, प्रकृति के विविध रूपों का मनोहारी वर्णन, सारे ही रसों का सुष्ठु निर्वाह-यह सब कुछ रामायण में एकत्र उपलब्ध है। रामायण एक उत्तम काव्य तो है ही; सम्पूर्ण भारत में एक लोकप्रिय धर्मग्रन्थ के रूप में भी यह सुपूजित है। महाभारत भी लौकिक संस्कृत में काव्य रचना के प्रारंभिक युग की रचना होने के कारण तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है ही, साथ ही समस्त काव्यतत्त्वों से युक्त यह ग्रन्थ केवल काव्य ही नहीं है अपितु इतिहासग्रन्थ और धर्मग्रन्थ होने के गौरव का अधिकारी भी बना है। रामायण और महाभारत दोनों ही ऐसे ग्रन्थ है जिससे काव्यशास्त्रियों ने बहुशः उदाहरण ग्रहण किए हैं।

इन दोनों काव्यों की रचना के पश्चात् संस्कृत की काव्यधारा निर्बाध रूप से प्रवाहित होती चली। पाणिनि उद्भट वैयाकरण थे, किन्तु पाणिनि के **पातालविजय** नामक काव्य का उल्लेख रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु (काव्यालंकार-208 पर नमिसाधु की टीका) ने किया है। राजशेखर ने पाणिनि रचित काव्य का नाम **जाम्बवती जय** कहा है। इसके अतिरिक्त कुछ संग्रह ग्रन्थों में भी पाणिनि के नाम से कुछ श्लोक प्राप्त होते हैं।

पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि ने भी काव्यों की रचना की अवश्य थी, जिनमें से एक का नाम '**स्वर्गारोहण**' था। '**कृष्णचरित**' के रचयिता समुद्रगुप्त ने वररुचि के इस काव्य का उल्लेख किया है-

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान्, भुवि।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः सदा।।

पतंजलि ने इसे '**वाररुचं काव्यं**' कहकर उल्लेख किया है और साथ साथ

कुछ श्लोकों को उद्धृत करके उनकी व्याख्या भी की है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने भी सम्भवः '**महानन्द**' नामक महाकाव्य की रचना की थी। '**कृष्णचरित**' में ही समुद्रगुप्त ने विशेष प्रशंसापूर्वक इसका भी उल्लेख किया।

पतंजलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा।
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्।।

पंतजलि के महाभाष्य के प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि उस समय तक पद्य रचना के साथ दृश्य काव्य, आख्यायिका आदि भी रचे जाने लगे थे और नाट्यों के अभिनय का भी पर्याप्त प्रचलन हो गया था। पंतजलि के समय के अनन्तर तो काव्य रचना का सर्वतोमुखी और सुन्दर विकास हुआ। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, भवभूति आदि के अद्भुत रसपेशल काव्य ग्रन्थ प्रत्येक शती में रचे जाते रहे।

काव्यशास्त्र का उद्भव एवं विकास- इस निरन्तर प्रवाहित काव्यगंगा के साथ साथ काव्य रचना के सिद्धान्तों का निर्माण और विकास भी स्वभावतः होता रहा होगा। किन्तु इसका प्राचीन साहित्य अब लुप्त प्राय है। फिर भी निरुक्त और व्याकरण- इन दो वेदांगों में काव्यशास्त्रीय कतिपय तत्त्वचों का तनिक सा विवेचन अवश्य मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में उपमा अलंकार का निरुपण किया और साथ ही गार्ग्य नामक आचार्य के मत को भी उल्लिखित किया है-

अथात उपमा यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः।

अर्थात् जो ऊपर से भिन्न होने पर उसके सदृश हो, वह इनका अर्थात् उपमा का कर्म अर्थात् विषय होता है। यह गार्ग्य का मत है। उपमा में अधिक गुण वाले या अत्यन्त प्रख्यात उपमान को कम गुण वाले अथवा अप्रख्यात उपमेय के सदृश दिखाया जाता है। यह उपमा का सामान्य लक्षण है तथा परवर्ती आचार्यों ने भी उपमा का प्रायः यही लक्षण स्वीकार किया है। किन्तु निरुक्तकार ने कम गुण वाले उपमान के साथ अधिक गुण वाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमेय के सादृश्य को भी उपमा माना है-

ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा, कनीयांसां वा अप्रख्यातं वा उपभिमीते।

यास्क की इस दूसरी प्रकार की उपमा को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार न करके 'हीनोपमा' माना है और उसे दोष की कोटि में गिना है।

यास्क ने उपमावाचक इव, यथा, न, चित्, नु, आ, वत् आदि शब्द भी बताए

और उपमा के पांच भेदों का भी कथन किया- कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा। 'लुप्तोपमा' का दूसरा नाम 'अर्थोपमा' भी है।

निरुक्त में प्राप्त उपमा के इस निरूपण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यास्क के समय तक अलंकार शास्त्र का विकास होने लगा था।

व्याकरण भी वेदांग में परिगणित है। उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पाणिनि से पूर्व भी अनेक व्याकरण ग्रन्थ लिखे गए थे किन्तु वे सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'निरूक्त' के समान अथवा उससे अधिक स्पष्ट रूप में 'उपमा' अलंकार का निरूपण मिलता है। अष्टाध्यायी में उपमान (2/1/55), उपमित (2/1/56) उपमा (2/3/72) शब्दों का स्पष्ट प्रयोग प्राप्त है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पाणिनि के समय तक काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों की शास्त्रीय परिकल्पना अवश्य हो चुकी थी।

साहित्यशास्त्र किंवा काव्यशास्त्र के उद्‌गम के विषय में कवि राजशेखर ने '**काव्यमीमांसा**' नामक अपने ग्रन्थ में एक आख्यायिका दी है। (काव्यमीमांसा पृष्ठ 1........5.) पौराणिक शैली की इस आख्यायिका में प्रामाणिक तत्त्व कम ही है किन्तु फिर भी वह एक विचारधारा का संकेत अवश्य करती है। इस आख्यायिका में निम्नलिखित वर्णन है-

'भगवान् श्रीकण्ठ शिव ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को काव्यविद्या का उपदेश दिया। भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने आयोनिज शिष्यों को इस विद्या का उपदेश दिया। इसमें देवों के द्वारा भी वन्दनीय सरस्वती पुत्र 'काव्यपुरुष' भी था और ब्रह्मदेव ने त्रिकालज्ञ और दिव्यनेत्रों से भविष्यार्थ को जान लेने वाले 'काव्यपुरुष' को 'भू:, भुव: और स्वर्ग तीनों लोकों में रहने वाली प्रजाओं में काव्यविद्या के प्रचार के लिए नियुक्त किया। काव्यपुरुष ने अठारह अधिकरणों वाली यह विद्या अपने अठारह शिष्यों को विस्तार सहित सिखाई।

सहस्राक्ष ने कविरहस्य को, उक्तिगर्भ ने औक्तिक को, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय को, प्रचेता ने आनुप्रासिक (अनुप्रासविषयक) को, यम ने यमको, चित्रांगद ने चित्र (चित्रकाव्यविषयक) को शेष, ने शब्दश्लेष को, पुलस्त्य ने वास्तव (स्वभावोक्ति) को, औपकायन ने औपम्य (उपमा विषय) को, पाराशर ने अतिशय (अतिशयोक्ति) को, उतथ्य ने अर्थश्लेष को, कुबेर ने (शब्द और अर्थ) उभयालंकारों को, कामदेव ने विनोद के विषय को, भरत ने रूपको (नाट्यों) के निरूपण को, नन्दिकेश्वर ने रस के अधिकार (विषय) को, धिषण (बृहस्पति) ने दोष विषय को, उपमन्यु ने गुणों के उपादान को और कुचुमार ने औपनिषदिक विषय को सीखा। तत्पश्चात्

उन सबने उन (अपने-अपने) विषयों पर पृथक्-पृथक् अपने शास्त्रों की रचना की।

इस प्रकार प्रकीर्ण हो जाने से काव्यविद्या छिन्न-भिन्न सी हो गई। अतएव काव्यविद्या के सभी विषयों को संक्षिप्त करके अठारह अधिकरण की यह काव्यमीमांसा नामक रचना की गई है।'

राजशेखर के इस कथन के समर्थन में अन्य किसी ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु इसे सर्वथा काल्पनिक कहकर भी नहीं नकारा जा सकता। उन्होंने काव्यविद्या के भिन्न भिन्न विषयों के जिन अठारह आचार्यों के नाम दिए हैं, उनमें से कुछ के ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इनमें से **नन्दिकेश्वर** का नाम परवर्ती साहित्य में प्रसिद्ध है। राजशेखर ने इन्हें रस विषयक ग्रन्थ का रचनाकार कहा था। इनके नाम से कोई रससम्बन्धी ग्रन्थ तो नहीं मिलता तथापि अभिनय, संगीत और कामशास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में इनका बहुधा उल्लेख प्राप्त होता है। वात्स्यायन ने (1/1/13) में **सुवर्णनाभ** को साम्प्रयोगिक खण्ड का आचार्य कहा है और इसी प्रकार **कुचुमार** भी कामसूत्र (1/1/17) में ही औपनिषदिक खण्ड के आचार्य रूप में उल्लिखित हैं।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित आख्यायिका में भरत को रूपकों का निरूपक बताया गया और यह कथन पूर्णत: सत्य है। भरत लिखित 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। शेष अन्य आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

ऊपर उल्लिखित आचार्यों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न अलंकार ग्रन्थों में अन्य अनेक काव्यशास्त्रीय आचार्यों के नाम तो मिलते हैं किन्तु उनकी रचनाओं का कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। ऐसे कुछ नाम इस प्रकारहै- ब्रह्मा, व्यास, नारद, वासुकि, अगस्त्य, सदाशिव, गौरी, कोहल, वृद्ध काश्यप, दन्तिल, वररुचि, ब्रह्मदत्त, नन्दिस्वामी आदि। इन आचार्यों की रचनाएं भले ही उपलब्ध न हो, फिर भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि काव्यरचना के साथ साथ प्राचीन समय से ही अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्पूर्ण काल में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उलेख मिलने पर भी उनका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता। यह निरूपण मुख्यत: आचार्य भरत से प्रारम्भ होता है।

संक्षिप्त इतिहास- काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ **आचार्य भरत** रचित **नाट्यशास्त्र** है। इस ग्रन्थ में प्रमुखत: तो रस एवं नाट्यतत्त्वों का विवेचन है;

किन्तु साथ ही चार अलंकार, दस गुणों और दस दोषों का भी सम्यक् विवेचन किया गया है। भरत का अलंकारशास्त्र की प्रारंभिक रूपरेखा के रूप में यह विवेचन ग्रहण किया जा सकता है।

भरत के पश्चात् **मेधाविन्** नामक आचार्य का ग्रन्थ अनुपलब्ध होने पर भी अन्य गन्थों में उनके उद्धरणों से उस ग्रन्थ की सत्ता का निश्चय अवश्य होता है। भारत की पुरातन परम्परा **अग्निपुराण** को प्राचीन मानती है जिसके 336 से 346 तक ग्यारह अध्यायों में काव्यशास्त्र के अनेक तत्त्वों का निरूपण प्राप्त होता हैं।

ऐतिहासिक साक्ष्य की दृष्टि से काव्यशास्त्र अथवा अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह (7वीं शती ई. पूर्वार्ध) हुए, जिन्होंने अपने **काव्यालंकार** नामक ग्रन्थ में अलंकार को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया और अपने ग्रन्थ में 38 अलंकारों का विवेचन किया। यह अलंकारशास्त्र का आधार स्थानीय हुआ।

आचार्य दण्डी (सातवीं शती ई. उत्तरार्ध) ने काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार की संज्ञा दी और अपने ग्रन्थ **काव्यादर्श** में 37 अलंकारों के साथ रीतियों और गुणों का बहुत सुन्दर विवरण दिया।

आचार्य वामन (आठवीं शती) रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए। काव्यात्मक सौन्दर्य को अलंकार नाम देते हुए वामन ने अलंकार के कारण ही काव्य को ग्राह्य माना। वामन ने अपने ग्रन्थ **'काव्यालंकारसूत्र'** में रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करके इस सम्प्रदाय की स्थापना की।

आचार्य उद्भट काश्मीर नरेश जयादित्य (आठवीं शती का अन्त और नवीं शती का प्रारंभिक) की सभा के पण्डितरत्न थे। इन्होंने भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया और अपने **'काव्यालंकारसंग्रह'** नामक ग्रन्थमें 41 अलंकारों का विवेचन किया।

आचार्य रुद्रट (नवमी शती) का ग्रन्थ **'काव्यालंकार'** काव्यशास्त्र के सारे ही विषयों का विस्तार से बोध कराता है। रुद्रट ही प्रथम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करके अलंकारों को कुछ निश्चित श्रेणियों में विभक्त किया। आचार्य रुद्रट ध्वनिवादी और अलंकारवादी आचार्यों के बीच एक कड़ी की भांति है। इन्होंने काव्य में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए काव्यसौन्दर्य के लिए अलंकारों को ही अधिक महत्त्व दिया।

आचार्य आनन्दवर्धन (नवीं शती का मध्य भाग) ने काव्यशास्त्र की एक नवीन धारा का प्रवर्तन किया। इन्होंने अपने **ध्वन्यालोक** ग्रन्थ के द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना की। उनके अनुसार काव्य के अन्य सब तत्त्वों से भिन्न जो प्रतीयमान

अर्थ होता है वही सहृदय को आह्लादित करता है- यही ध्वनि है और ध्वनि या प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।

आचार्य अभिनवगुप्त (दसवीं शती) शैव दर्शन के मूर्धन्य आचार्य तो थे ही, साथ ही काव्यशास्त्र के भी अत्यन्त मान्य आचार्य हुए। इन्होंने अपने दो अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थों **ध्वन्यालोकलोचन** और **अभिनवभारती** के द्वारा रस और ध्वनिसिद्धान्त का अत्यन्त तात्विक विवेचन किया।

आचार्य कुन्तक (ग्यारहवीं शती) ने प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं से हट कर **वक्रोक्ति सम्प्रदाय** नामक एक नवीन मत की स्थापना की और अपने '**वक्रोक्तिजीवित**' नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित कर दिया।

महिमभट्ट (दसवीं शती का अन्तिम भाग) का एक मात्र ग्रन्थ '**व्यक्तिविवेक**' है किन्तु इससे ही उन्हें पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। वे स्वयं ही कहते हैं कि इस ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य ध्वनि को अनुमान के भीतर अन्तर्भुक्त करना ही है।

धनञ्जय (दसवीं शती का उत्तरार्ध) ने नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादक एक ग्रन्थ 'दशरूपक' लिखा जो अपनी सरल सुगम शैली के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। धनञ्जय ध्वनिविरोधी आचार्य थे।

क्षेमेन्द्र (1000 ई.) ने अनेक विधाओं में साहित्यरचना की। काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में क्षेमेन्द्र ने **कविकण्ठाभरण** और **औचित्यविचारचर्चा** नामक दो ग्रन्थ रचे। औचित्यविचार चर्चा ग्रन्थ के द्वारा क्षेमेन्द्र ने **औचित्य सम्प्रदाय** का प्रवर्तन किया और अपने मत की व्याख्या भी की।

मम्मट (1050 से 1100 के मध्य) काव्यशास्त्रीय आचार्यों में अत्यधिक गौरवशाली पद के अधिकारी बने है। मम्मट रचित ग्रन्थ **काव्यप्रकाश** में काव्य के सभी विषयों के सांगोपांग, तार्किक एवं विस्तृत विवेचन ने मम्मट को आचार्यों की अग्रिम पंक्ति में स्थापित कर दिया। ध्वनि मत की विरोधी युक्तियों का दृढ़ खण्डन करके उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त को एक सुव्यवस्थित श्रेष्ठ रूप प्रदान किया और इसी लिए मम्मट को 'ध्वनिप्रस्थापनः-परमाचार्य' की उपाधि से अलंकृत किया गया।

भोजराज (ग्यारहवीं शती) एक प्रतापी राजा थे, जिन्होंने साहित्यिक और वैज्ञानिक विषयों पर विविध महत्वपूर्ण साहित्य रचा। अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में उनकी दो रचनाएं **श्रृंगार प्रकाश** और **सरस्वती कण्ठाभरण** काव्य के विभिन्न तत्त्वों के ज्ञान के लिए विश्वकोश के सदृश हैं। अपने ग्रन्थों में भोजराज ने इस शास्त्रीय क्षेत्र में अनेक नवीन उद्भावनाएं भी की।

वाग्भट प्रथम (12वीं शती पूर्वार्द्ध) आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे और इन्होंने 'वाग्भटालंकार' नामक ग्रन्थ की रचना की। पांच परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ में 260 पद्य हैं तथा वाग्भट ने सभी के उदाहरण स्वरचित दिए हैं।

हेमचन्द्र (1088–1173 ई.) जैन मतावलम्बी थे तथा गुजरात के राजाओं के गुरु थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से काव्यशाास्त्रीय क्षेत्र में '**काव्यानुशासन**' नामक ग्रन्थ में काव्य के प्राय: सभी अंगों की विवेचना की। किन्तु इसको मौलिक की अपेक्षा संग्रह ग्रन्थ अधिक माना गया।

रुय्यक (12वीं शती मध्य) का ग्रन्थ **अलंकार-सर्वस्व** वस्तुत: ही अलंकारों के क्षेत्र में एक अनुपम ग्रन्थ है। रुय्यक ने अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के अलंकार–सम्बन्धी खोजों और मतों की न्यूनताओं का परिहार किया और 82 अलंकारों का विवेचन किया।

नाट्यदर्पण नामक ग्रन्थ **रामचन्द्र** एवं **गुणचन्द्र** नामक लेखकद्वय की सम्मिलित रचना है। इनका समय 1100 से 1175 ईस्वी सम्भावित किया गया है। यह ग्रन्थ यद्यपि मुख्यत: नाट्यतत्त्वों से ही सम्बद्ध है तथापि रसविवेचन में मौलिकता के कारण इसका क्षेत्र काव्यों तक विस्तृत हो गया।

जयदेव (1200 से 1300 ई. के मध्य) ने **चन्द्रालोक** नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की, जिसके दस मयूखों (अध्यायों) में उन्होंने विविध काव्यतत्वों का अत्यन्त सरल शैली में प्रतिपादन किया। इसकी सरलता के कारण ही अप्पयदीक्षित ने चन्द्रालोक को अपने ग्रन्थ कुवलयानन्द का आधार बनाया।

विद्यानाथ (1280–1325 ई. के मध्य) ने काव्यशास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ **एकावली** की रचना की। इस ग्रन्थ में काव्य के लगभग सभी तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह भी है कि इसके सभी उदाहरण भी विद्यानाथ ने अन्य ग्रन्थों से ग्रहण न करके स्वयं ही रचे है।

विश्वनाथ कविराज (1300 से 1384 ई. के मध्य) ने **साहित्यदर्पण** नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें श्रव्य काव्यों के सभी तत्त्वों के विवेचन के साथ साथ दृश्य काव्यों (नाट्यों) के भेदों और विभिन्न विशेषताओं का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। विश्वनाथ की यह रचना अपनी बोधगम्यता के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

शिंगभूपाल (14वीं शती ई. के मध्य) ने **रसार्णवसुधाकर** नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि इसमें नाट्यविषयक तथ्य ही प्रमुख हैं किन्तु इसके द्वितीय विलास में रस का विस्तृत विवेचन होने के कारण इसे काव्यशास्त्र के इतिहास में

भी ग्रहण किया जाता है।

वाग्भट द्वितीय (14वीं शती के लगभग) ने काव्यशास्त्र विषय पर **काव्यानुशासन** नामक ग्रन्थ लिखा। यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन से भिन्न ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में पांच अध्याय है जिनमें काव्य के सभी तत्त्व विवेचित हैं। वाग्भट ने गद्यनिबद्ध सूत्रों में रचना की और उन सूत्रों पर **अलंकारतिलक** नामक वृत्ति स्वयं ही लिखी किन्तु वृत्ति भाग अधिकांशतः दूसरे ग्रन्थों से लिया गया है।

रूपगोस्वामी- (15वीं शती के अन्त से 16वीं शती ई. का मध्य) ने अनेक रचनाएं की, जिनमें साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध तीन रचनाएं है- उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिन्धु एवं नाटकचन्द्रिका। रूपगोस्वामी ने मधुरा रति स्थायी भाव से निष्पन्न भक्ति रस के सिद्धान्त की स्थापना की।

भानुदत्त के समय को विभिन्न समालोचकों ने 13वीं, 14वीं या 16वीं शती में निर्धारित किया है। भानुदत्त ने **रसतरंगिणी, रसमंजरी** और **अलंकारतिलक** नामक प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की।

अप्पयदीक्षित (16वीं शती का उत्तरार्ध एवं 17वीं शती ई. का पूर्वार्ध) परवर्ती काव्यशास्त्रियों में बहुत महत्वपूर्ण हैं। अपने **कुवलयानन्द** नामक ग्रन्थ में उन्होंने वृत्तियों और अलंकारों का विवेचन किया। इनके ग्रन्थों से अप्पय दीक्षित के प्रौढ़ पाण्डित्य और मौलिक विचारों का परिज्ञान होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ (1620-1670 ई.) का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **रसगंगाधर** अत्यन्त प्रौढ़ तथा विद्वतापूर्ण रचना के रूप में समादृत है। पण्डितराज ने काव्यतत्त्वों का प्रतिपादन अत्यन्त तर्कयुक्त शैली में किया है। यथास्थान प्राचीन आचार्यो मम्मट, विश्वनाथ आदि की भी आलोचना करते हुए उन्होंने अपने मत को स्पष्टतया विवेचित किया है।

आचार्य विश्वेश्वर (18वीं शती ई.) एक ऐसी अद्‌भुत प्रतिभा के धनी काव्यशास्त्री हुए जिनके ग्रन्थों ने विद्वानों एवं समालोचकों को समान रूपसे आश्चर्यचकित कर दिया। इन्होंने 21 उत्तम ग्रन्थों की रचना की। जिनमें अलंकार-कौस्तुभ को काव्यशास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ कहा गया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता अलंकारों का विस्तृत विवेचन है।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों के इस संक्षिप्त इतिहास से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि यह शास्त्र निरन्तर वर्धनशील है और भविष्य में भी नए श्रेष्ठ आचार्य काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में नवीन सम्प्रदायों की उद्‌भावना करके इसे गतिशील बनाए रखेंगे।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों की इस संक्षिप्त परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता कि वैदिक युग से लेकर अठारहवीं शती ईस्वी तक, काव्यशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों के विवेचन से लेकर सर्वांगपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचे जाते रहे। इस सम्पूर्ण काल को अधिकांश विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है। यद्यपि इस विभाजन की समय सीमा कोई निर्णायक रेखा नहीं है; फिर भी यह विभाजन काव्यशास्त्रीय विकास द्योतित अवश्य करता है-

(1) **प्रारम्भिक काल**- वैदिक युग से भामह के समय तक- इस युग के आरंभ में ही काव्य के साथ काव्यशास्त्र का भी आरम्भ हो चुका था, यद्यपि उसके लिए स्पष्टत: अलग ग्रन्थों की रचना नहीं हुई थी। पहला ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र था जिसमे मुख्यत: नाट्यतत्त्वों का विवेचन था। किन्तु इसी ग्रन्थ में अलंकारशास्त्र की रूपरेखा अवश्य प्रस्तुत हो गई थी; क्योंकि नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में चार अलंकारों, दस गुणों और दस दोषों का विवेचन किया गया है। इसी युग में भरत नाट्यशास्त्र के मेधाविन् आदि टीकाकार हुए, जिनके ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

(2) **रचनात्मक काल** - यह काल काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और 600 ई. से 800 ई. तक लगभग दो सौ वर्षों में विस्तृत है। इसी युग में काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ। भामह, उद्भट, रुद्रट आदि ने काव्य में अलंकारों की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की। दण्डी और वामन ने काव्य में गुणों और रीति की विवेचनाकरते हुए **रीतिसम्प्रदाय** को स्थापित किया। इसी युग में भरत के रससूत्र "**विभावानुभावव्यभिचा-रिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**" की विशद व्याख्या करने वाले भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्टनायक आदि आचार्य हुए जिन्होंने अपनी व्याख्याओं से **रससम्प्रदाय** को पुष्ट किया।

(3) **निर्णयात्मक काल**- यह काल भी 800 से 1000-1100 तक के समय में फैला हुआ है तथा काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन ने काव्य में ध्वनि को ही सर्वप्रमुख तत्त्व घोषित करके ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा और **ध्वनि-सम्प्रदाय** की स्थापना हुई। अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। ध्वनि सिद्धान्त के कट्टर विरोधी आचार्य कुन्तक ने '**वक्रोक्तिजीवित**' ग्रन्थ लिखकर इसी युग में **वक्रोक्ति** सम्प्रदाय की स्थापना की। महिम भट्ट ने भी '**व्यक्तिविवेक**' जैसा उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिख कर ध्वनिसिद्धान्त का आमूल खण्डन किया। इसी युग में आचार्य क्षेमेन्द्र ने '**औचित्य-विचार चर्चा**' नामक ग्रन्थ लिखकर **औचित्य सम्प्रदाय** की उद्भावना की।

आचार्य भोजराज, धनंजय, धनिक आदि ने भी इसी युग को अलंकृत किया।

(4) व्याख्याकाल- काव्यशास्त्र का यह चौथा काल 1000–1100 से 1800 तक विस्तृत है। यह सबसे लम्बा काल है। इस युग में अनेकानेक प्रसिद्ध आचार्यों ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों की विवेचना करते हुए सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के समर्थन करने वाले उद्भट आचार्य निम्नांकित हैं-

अलंकार सम्प्रदाय- पण्डितराज जगन्नाथ, आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

रस सम्प्रदाय- शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि।

कविशिक्षा- राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदि।

उपर्युक्त विभाजन में काव्यशास्त्र के प्राचीनतम से अधुनातन तक के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया गया था। कुछ अन्य विद्वानों की दृष्टि में ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करके आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र को एक नवीन पथ पर अग्रसर किया था। अतः वे विद्वान् काव्यशास्त्र के इतिहास को तीन युगों में विभाजित करते है-

1. **ध्वनि से पूर्ववर्ती काल**- वैदिक युग से 8वीं शती तक।
2. **ध्वनि काल**- आठवीं से दसवीं शती तक।
3. **ध्वनि से उत्तरवर्ती काल**- दसवीं से अठारहवीं शती तक।

OOO

प्रथम खण्ड
काव्यशास्त्र के विषय

किसी भी वस्तु के गुण दोषों को जानने के लिए उसके शास्त्र की रचना होती है। उसी प्रकार काव्य की उत्तमता, अधमता, निरर्थकता अथवा काव्यमयता को जानने के लिए काव्यशास्त्र का उद्‌भव हुआ। काव्य शास्त्र के अन्तर्गत उन सारे ही विषयों का विवेचन होता है जो काव्य की आलोचना के लिए उपयोगी हैं। विषय प्रवेश के अन्तर्गत ऐसे विभिन्न ग्रन्थकारों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने काव्यशास्त्र के सभी विषयों की विवेचना की अथवा कुछ ही विषयों का प्रतिपादन हुआ। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्य का/के हेतु काव्य के/ ये प्रयोजन, काव्य का लक्षण, काव्य की आत्मा, काव्य भेद, शब्द और अर्थ, वृत्तियां, नाट्यतत्त्व, गुण, दोष, अलंकार, रस, रीति, ध्वनि आदि अनेक विषय समाहित होते हैं और प्राय: सभी प्रमुख काव्य शास्त्रियों ने इन विषयों पर अपने अपने मतों का तर्कपूर्वक प्रतिपादन किया है। कतिपय शास्त्रकारों ने नाट्य को सर्वथा त्याग कर अन्य काव्य तत्त्वों का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया, यथा भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, वामन का काव्यालंकारसूत्र, मम्मट का काव्यप्रकाश, आचार्य जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि।

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ में किसी एक विशिष्ट तत्त्व मात्र का विश्लेषण, मण्डन और उपस्थापन किया। यथा–

लेखक	**ग्रन्थ**	**विषय**
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक	ध्वनि
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित	वक्रोक्ति
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचारचर्चा	औचित्य
मुकुलभट्ट	अभिधावृत्तिमातृका	वृत्तियां
भानुदत्त	रसतरंगिणी	रस
भानुदत्त	रसमंजरी	नायक नायिका (किंचित् रस)

रुय्यक	अलंकार सर्वस्व	अलंकार
अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द	अलंकार आदि

इन विषयों में ध्वनि, रस, अलंकार आदि काव्य के सम्प्रदायों के रूप में विकसित होकर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित हो गए।

काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों का संक्षिप्त प्रतिपादन इस प्रकार है-

काव्य प्रयोजन

सृष्टि में घटित होने वाले हर कार्य के मूल में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य ही निहित रहता है, भले ही ऊपरी दृष्टि से वह जाना न जाता हो। मूर्ख व्यक्ति भी किसी न किसी प्रयोजन के बिना कार्य करने का श्रम नहीं करता- '**प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते।**' संस्कृत आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन की मीमांसा बहुत ही गंभीरता के साथ की है।

आचार्य भरत से लेकर सम्पूर्ण परम्परा के अनेक आचार्यों ने काव्य रचना का प्रयोजन क्या है- इस पर विचार किया। भरत ने अपने महनीय ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में नाट्य के महत्व का जो विस्तृत कथन किया था, उसी में नाट्य/काव्य का प्रयोजन भी अन्तनिर्हित था-

''उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भवियति।।'

नाट्यशास्त्र 1/113-115

अर्थात् 'नाट्य उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के कर्मों का आश्रयभूत है। यह हितकारी उपदेश देने वाला है तथा धैर्य, मनोरंजन और सुख प्रदान करता है। दुख, श्रम तथा शोक से व्याकुल व्यक्तियों को सान्त्वना/ विश्रान्ति देने वाला है। यह धर्म, यश और आयु को बढ़ाने वाला है, हितकारक और बुद्धि की वृद्धि करने वाला है।' इस प्रकार भरत के अनुसार काव्य का प्रयोजन हितकारक उपदेश देना, मनोरंजन करना, धर्म, यश तथा आयु को बढ़ाना है।

आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में काव्य के अनेक प्रयोजन कहे-

''**धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्ष्ण्यं कलासु च।**
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।'

काव्यालंकार 1/12

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना करने से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्वर्ग की प्राप्ति, कलाओं में नैपुण्य, यश और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है।' ये ही काव्य प्रयोजन हैं। भामह के अनुसार चतुर्वर्ग प्राप्ति, कला नैपुण्य, यश तथा प्रसन्नता/आनन्द की प्राप्ति काव्य का प्रयोजन है।

आचार्य वामन ने यश और आनन्द को काव्य का प्रयोजन कहा-

''**काव्यं सद्दृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।**''

काव्यालंकार 1/1/15

काव्य का दृष्ट प्रयोजन आनन्द है तथा अदृष्ट प्रयोजन यश है।

इसी सूत्र की वृत्ति में वामन के अभिप्राय को और विस्तृत किया गया है। तदनुसार काव्य की रचना करने से यश प्राप्त होता है किन्तु बुरे काव्य की रचना अपयश का भागी बना देती है। सारे संसार में विद्वान् जन यश को स्वर्गफल देने वाला कहते हैं तथा अपयश को आलोकरहित नरक में ले जाने वाला बताते हैं। अत: श्रेष्ठ कवियों को चाहिए कि काव्यालंकार सूत्र के अर्थ को जान समझ कर यशप्राप्ति और अपयश नाश के लिए श्रेष्ठ काव्य की रचना करें। वामन के अनुसार काव्य के दो ही प्रयोजन है- कीर्ति एवं आनन्द।

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' में काव्य के प्रयोजनों को पर्याप्त स्पष्ट किया-

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारी वितन्यते।।

वक्रोक्तिजीवित 1/3---5

'धर्म, अर्थ आदि चतुवर्ग को प्राप्त करने का उपायरूप, सुकुमार क्रम में कहा गया काव्य श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न जनों के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाला है। व्यवहार का ज्ञान कराने वाले सुन्दर काव्य के अधिगम से नवीन औचित्य प्राप्त होता है। काव्यानन्द को जानने वाले जनों के हृदय में काव्यामृत रस के द्वारा चतुर्वग

प्राप्ति के आस्वाद से भी बढ़कर आनन्द का चमत्कार प्रसृत हो जाता है।' इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने आनन्दानुभूति रूप चमत्कार को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन घोषित किया।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अनिष्ट निवारण, तत्क्षण आनन्दानुभूति और सरस उपदेश- ये छह काव्यप्रयोजन प्रतिष्ठापित किए-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे।।

काव्यप्रकाश 1/2

मम्मट द्वारा प्रतिपादित ये काव्य प्रयोजन वस्तुतः पूर्ववर्ती तथा परवर्ती लगभग सारी ही आचार्य परम्परा द्वारा कथित प्रयोजनों को अन्तर्भुक्त कर लेते हैं, अतः इसका तनिक अधिक विवेचन उचित ही होगा।

यशसे- काव्य रचने से संसार में यश की प्राप्ति होती है। इसके उदाहरण में मम्मट ने कालिदास आदि का उदाहरण दिया है। उत्तम काव्य रचना कवि को अनन्त काल तक यशः शरीर प्राप्त करा देती है।

अर्थकृते- काव्यरचना के द्वारा धनप्राप्ति भी होती है। इसके लिए मम्मट ने धावक का नाम लिया है जिन्हें हर्ष से धन प्राप्त हुआ। ऐसी भी एक प्रसिद्धि है कि नागानन्द, रत्नावली आदि नाट्य किसी धावक नामक कवि ने लिखे थे किन्तु उन पर अपना नाम न देकर हर्ष का नाम दे दिया और हर्ष से प्रभूत धन प्राप्त किया। उत्तम काव्य रचना के द्वारा धन प्राप्ति के और अनेक उदाहरण है।

व्यवहारविदे- काव्य के रचने अथवा पढ़ने से लौकिक व्यवहार का भी ज्ञान होता है। काव्य-नाट्य में विभिन्न पात्रों के अनेकानेक व्यवहारों को प्रस्तुत किया जाता है, अतः काव्य से शिष्टाचार और उचित आचरण का भी परिज्ञान होता है।

शिवेतरक्षतये- काव्य के द्वारा अमंगल का भी निवारण होता है। यह अमंगल निवारण कवि और पाठक दोनों को होता है। इसके लिए मम्मट ने मयूरकवि का उदाहरण दिया है। कवि मयूर को किसी के शापवश कुष्ठ रोग हो गया। अपने रोग से मुक्ति पाने हेतु उन्होंने 'सूर्यशतक' की रचना की और शारीरिक रोग से सर्वथा मुक्त हो गए। आज भी किसी अमंगल, कष्ट अथवा दुख से मुक्ति पाने के लिए लोग रामायण आदि का पाठ करते ही हैं।

कान्तासम्मितयोपदेशयुजे- मम्मट के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश प्राप्त कराना काव्य का एक और प्रयोजन है। अपने इस प्रयोजन को मम्मट ने बहुत अच्छी तरह व्याख्यायित किया है। वेद शास्त्र आदि भी उपदेश देते हैं जो 'प्रभुसम्मित'

उपदेश है और राजाज्ञा के सदृश उनका अक्षरश: पालन करना अनिवार्य होता है। इतिहास पुराण आदि का उपदेश 'सुहृत्सम्मित' उपदेश होता है, जिनके अक्षरश: पालन की आवश्यकता नहीं होती, उनके अभिप्राय को ग्रहण किया जाता है। काव्य का उपदेश 'कान्तासम्मित' उपदेश है। प्रिया अपने कथन की सरस शैली के द्वारा पुरुष को किसी कार्य में प्रवृत्त अथवा कार्य से निवृत्त करती है। यह रसप्रधान शैली है और काव्य इसी प्रकार से सरस रूप में उपदेश देता है। रामायण में कवि ने कहीं भी यह उपदेश नहीं दिया कि मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिए। किन्तु इसके पठन-पाठन से पाठक/ श्रोता को रसास्वादन के साथ साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश भी प्राप्त हो जाता है कि व्यक्ति को राम की भांति आचरण करना चाहिए, रावण की भांति व्यवहार नहीं करना चाहिए।

सद्यः परनिर्वृतये- यह काव्य का मौलिभूत प्रयोजन है। काव्य की रचना करते समय अथवा पठन/ श्रवण के समय जो एक आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है, वह आनन्द का अनुभव काव्यरस के आस्वादन से होता है। आनन्द की इस अनुभूति के समय संसार के अन्य सभी विषयों का ज्ञान लुप्त हो जाता है। वस्तुत: व्यक्ति स्व को भी भूल कर उसी आनन्द में तल्लीन हो जाता है। इसीलिए मम्मट ने रसास्वादन के आनन्दानुभव को काव्य का प्रधान प्रयोजन कहा है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजन और उनकी व्याख्या सर्वाधिक वैज्ञानिक हैं।

भोज- 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोज ने काव्य के दो ही प्रयोजन स्वीकार किए-

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।

सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2.

'दोष रहित, गुण सम्पन्न, अलंकारों से सुशोभित, रसपूर्ण काव्य की रचना करता हुआ कवि यश और आनन्द प्राप्त करता है।'

इस प्रकार भोज के मत में यश और प्रीति-ये दो ही काव्य के प्रयोजन हैं।

विश्वनाथ- साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने काव्य प्रयोजन पर विस्तृत विचार किया-

चतुर्वर्गफुलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव..............।। साहित्यदर्पण 1/2

'अल्पबुद्धि वाले जनों को भी काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- की प्राप्ति हो जाया करती है।'

इस कारिका के वृत्तिभाग में विश्वनाथ ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की- 'काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है, राम के समान आचरण करना चाहिए रावण आदि के समान नहीं- इस करणीय में प्रवृत्ति और अकरणीय से निवृत्ति स्पष्ट ही है। काव्य में भगवान् नारायण के चरण कमलों की स्तुति आदि से धर्म प्राप्त होता है। काव्य से अर्थप्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है और अर्थ से काम की प्राप्ति हो जाती है। धर्म के फल के प्रति अनासक्ति मोक्ष का कारण होती है।

वेदादि काव्यों से भी चतुर्वर्ग प्राप्ति होती है, किन्तु उनके नीरस होने के कारण परिपक्व बुद्धि वाले ही उसे प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु सुकुमार बुद्धि वालों को यह प्राप्ति काव्य के द्वारा सरलता से हो जाती है क्योंकि काव्य परम आनन्ददायक होते हैं।

यहां यह शंका हो सकती है कि वेदादि से चतुर्वर्ग प्राप्ति हो जाने पर परिपक्व बुद्धि वाले काव्य में यत्न क्यों करेंगे- किन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिए। कड़वी औषधि से शांत होने वाला रोग यदि सफेद शक्कर से शान्त हो जाए तो किस रोगी की प्रवृत्ति शक्कर की ओर नहीं होगी? अत: तीक्ष्ण बुद्धि वाले और कोमल बुद्धि वाले सभी जनों की प्रवृत्ति काव्य की ओर होती है।

इससे स्पष्ट है कि विश्वनाथ के मत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कराना काव्य का प्रयोजन है।

पण्डितराज जगन्नाथ- जगन्नाथ ने अत्यन्त संक्षेप में काव्यप्रयोजनों का कथन किया।

तत्रकीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य'---
रसगंगाधर

अर्थात् कीर्ति, परम आह्लाद, तथा गुरु-राजा-देवता की कृपा प्राप्ति आदि काव्य के अनेक प्रयोजन है।

सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रमुख आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत काव्य प्रयोजनों को देखने पर स्पष्टत: ही आचार्य मम्मट मत सर्वाधिक वैज्ञानिक, व्यावहारिक और बुद्धिगम्य दृष्टिगत होता है। जैसा पहले भी इंगित किया जा चुका है, वस्तुत: मम्मट के मत में ही अन्य सारे मतों का संग्रहण हो जाता है।

काव्य के हेतु

पाठक, श्रोता अथवा दर्शकवृन्द जिन काव्यों/ नाट्यों को पढ़कर, सुनकर अथवा अभिनय देखकर रसनिमग्न हो जाते हैं, उन रचनाओं को रच सकने के मूल में कोई हेतु अवश्य होना चाहिए जिसके कारण वह रचा जा पाता है। काव्यशास्त्रीय

आचार्यों ने काव्यरचना के हेतु, कारण अथवा उपादानों पर भी पर्याप्त विचार किया है।

आचार्य भामह– इन्होंने मूलतः प्रतिभा को ही काव्य का हेतु स्वीकार किया-

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।' काव्यालंकार 1/5

अर्थात् 'कोई प्रतिभाशाली ही काव्य की रचना कर पाता है।' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र हेतु है, किन्तु आगे की ही दो कारिकाओं में वे कुछ अन्य हेतुओं से भी काव्य रचना सम्भावित मानते हैं-

'शब्दच्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यज्ञैरमी।।
शब्दामिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यप्रबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।।

काव्यालंकार 1/9-10

इसके अनुसार भामह ने शास्त्र एवं कला अनुशीलन, अन्य कवियों की रचनाओं का अध्ययन-मनन, तथा काव्यविद् गुरु की उपासना से काव्य रचना किया जा सकना स्वीकार किया है।

आचार्य दण्डी– दण्डी ने तीन हेतुओं का समवाय काव्य हेतु कहा-

'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पदः।।'

काव्यादर्श 1/103

'स्वाभाविक प्रतिभा, व्यापक अध्ययन तथा अनवरत अभ्यास- ये तीनों मिलकर काव्य का हेतु होते हैं।'

तीन हेतुओं के समवाय को काव्य का हेतु कहकर भी पुनः दण्डी ने यह प्रतिपादन किया कि यदि व्यक्ति में जन्मजात अद्भुत काव्य प्रतिभा न भी हो तो भी सयत्न दृढ़ अध्ययन और निरन्तर अभ्यास से प्रसन्न सरस्वती कभी कभी निश्चय ही अनुग्रह कर देती है-

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।

काव्यादर्श 1/104

आचार्य वामन– वामन ने अपने पूर्वाचार्यों के मतों को ही और अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। तदनुसार लक्ष्यत्व (काव्यों से परिचय) अभियोग (काव्य रचना का उद्योग) वृद्धसेवा (काव्य का उपदेश करने वाले गुरु की सेवा), अवेक्षण (पदों का आधान एवं उद्धरण), प्रतिभा (कवित्व बीज) तथा अवधान (चित्त की

एकाग्रता) के द्वारा काव्य की रचना होती है। (काव्यालंकार सूत्र 1/3/12-18)

आनन्दवर्धन- आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों को ही काव्य का हेतु बताया, किन्तु फिर भी प्रतिभा को अधिक महत्वपूर्ण कहा। उनके अनुसार व्युत्पत्ति न होने से उत्पन्न दोष तो कवि की शक्ति (प्रतिभा) के द्वारा संस्कृत हो जाता है किन्तु शक्ति के न होने से उत्पन्न दोष तो तुरन्त ही प्रगट हो जाता है-

अव्युत्पत्तिकृतो दोषो शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।।

ध्वन्यालोक 3/6 की वृत्ति

मम्मट- आचार्य मम्मट ने तीन हेतुओं को एकत्र रूप में काव्य रचना का एक हेतु प्रतिपादित किया-

शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश 1/3

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा), लोक (व्यवहार), शास्त्र तथा काव्यादि के पर्यालोचनसे उत्पन्न निपुणता, और काव्य को जानने वाले गुरु की शिक्षा के अनुसार (काव्य रचना का) अभ्यास- ये (तीनो मिलाकर) काव्य के उद्भव के कारण हैं।

पण्डित जगन्नाथ- जगन्नाथ ने काव्य हेतु का प्रतिपादन करने में कुछ वैशिष्ट्य दिखाया है- तदनुसार काव्य का एकमात्र हेतु प्रतिभा है तथापि व्युत्पत्ति और अभ्यास उस प्रतिभा के हेतु हो जाते हैं-

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।।
तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्।
क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ।

रसगंगाधर पृ. 8।।

अर्थात् 'काव्य का कारण केवल कविस्थित प्रतिभा है। और इस प्रतिभा के दो हेतु हैं- कभी तो देवों और महापुरुषों की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कभी विलक्षण व्युत्पत्ति या अभ्यास।'

सभी प्रमुख काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित काव्य के हेतु के इस स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि अधिकांश आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु कहा। कुछ आचार्यों ने केवल प्रतिभा को काव्य हेतु कहा और अन्य दो को प्रतिभा का सहायक हेतु। इन सारे आचार्यों में आचार्य मम्मट ने दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति अभ्यास- ये तीनों सम्मिलित रूप में काव्य

रचना के हेतु है, अलग अलग नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कारिका में एक वचन 'हेतु' पद का प्रयोग किया, बहुवचन हेतवः पद का नहीं।

काव्य का हेतु क्या है, इस पर आचार्यों के मतों को जान लेने के अनन्तर अब इनका पृथक् पृथक् विवेचन भी आवश्यक है-

प्रतिभा- उपर्युक्त विचारसरणि से स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने काव्यरचना के उपादानों में प्रतिभा अथवा शक्ति को सर्वोत्कृष्ट अथवा सर्वप्रथम परिगणित किया है। काव्यरचना में यदि यह हेतु नहीं है, तो काव्य रचा ही नहीं जा सकेगा अथवा रचा जाकर भी नितान्त उपहास का पात्र हो जाएगा। अतएव आचार्यों ने इस पर भी गहन विचार किया कि प्रतिभा कवि में किस प्रकार आती है और प्रतिभा का स्वरूप क्या है!

अधिकांश आचार्यों ने यह विचार प्रगट किया कि प्रतिभा जन्मजात अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कारों से होती है। विभिन्न जन्मों में शास्त्राध्ययन, परिष्कृत रुचि, विद्वानों की संगति आदि के कारण आत्मा पर जो संस्कार पड़ते हैं, उन्हीं के कारण किसी जन्म में व्यक्ति में प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है।

दण्डी और **वामन** ने प्रतिभा को सहज (नैसर्गिक) और जन्मान्तर के संस्कारों से युक्त कहा-

'**जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा।**' काव्यालंकारसूत्र 1/3/16.

भरत के नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में अभिनवगुप्त ने भी यही कहा कि कवित्व की बीजरूप यह प्रतिभा जन्मान्तरसंस्कारगत हुआ करती है।

मम्मट भी प्रतिभा को शक्ति नाम देकर उसे ऐसा संस्कार विशेष कहते हैं जो कवित्व की बीजरूप होती है।

'**शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः.....।** काव्यप्रकाश 1/3 की वृत्ति

आचार्य **कुन्तक** कहते हैं।

प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।

वक्रोतिजीवित पृ. 49

इससे स्पष्ट है कि जन्मान्तरगत संस्कारों के परिपक्व हो जाने से कवि की प्रौढ़ कवित्वशक्ति ही प्रतिभा है जिससे कवि उत्तम काव्यरचना में सक्षम होता है।

कुन्तक का मत है कि काव्य में कविप्रतिभा का ही चरमोत्कर्ष रहता है- **कवि प्रतिभा प्रौढ़िरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।**' कविता में जो कुछ भी चमत्कार है वह सब प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है और काव्य के समस्त सौन्दर्य साधनों का प्राण यही प्रतिभा है।

जन्मान्तरों के संस्कारों से प्रौढ़ इस प्रतिभा का स्वरूप क्या है, इस पर भी पर्याप्त विचार किया गया है।

सर्वप्रथम **भट्ट तौत** ने अपने ग्रन्थ 'काव्यकौतुक' में प्रतिभा के वैज्ञानिक स्वरूप को प्रदर्शित किया था। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में भट्टतौत के मत को उद्धृत किया है-

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता.....'

अर्थात् नए नए अर्थों के उन्मीलन करने में समर्थ प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं। इसी प्रतिभा से कवि तीनों कालों के अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसी प्रज्ञा/ प्रतिभा से अनुप्राणित होकर कवि वर्णन करने में निपुण होता है और उसका कार्य काव्य कहलाता है। प्रतिभा होने पर व्यक्ति परोक्ष पदार्थों को भी प्रत्यक्षवत् देखता है।

आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा को और अधिक स्पष्ट किया-

मनसि सदा सुसमाधीनि विस्फुरणमनेकधा।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।

काव्यालंकार 1/15

अर्थात् यह शक्ति (प्रतिभा) ही है जिसके द्वारा मन के एकाग्र कर दिए जाने पर कवि में अनेक प्रकार से अर्थ का विस्फुरण होता है और मनोहर अक्लिष्ट पद प्रतिभासित होने लगते हैं।

प्रतिभा अथवा शक्ति के कारण ही कवि एक भविष्यद्रष्टा के सदृश न देखी गई वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष के समान काव्य में प्रस्तुत कर देता है। मुख आदि पदार्थों के रमणीय रूप में न होने परभी कवि की प्रतिभा लोकोत्तर रमणीय रूप में उन्हें पाठकों/श्रोताओं/ दर्शकों के हृदय में निवेशित कर देती है।

कतिपय आचार्यों ने विभिन्न आधारों पर प्रतिभा के भेदों का भी प्रतिपादन किया-

आचार्य रुद्रट- सहजा प्रतिभा तथा उत्पाद्या प्रतिभा। काव्यालंकार 1/16

हेमचन्द्र- उत्पाद्या प्रतिभा तथा औपाधिकी प्रतिभा। काव्यानुशासन पृ. 4/5

राजशेखर- कारयित्री प्रतिभा तथा भावयित्री प्रतिभा।

कारयित्री प्रतिभा के पुनः तीन भेद है- सहजा, आहार्या, औपदेशिकी।

-काव्यमीमांसा, पृ. 10

व्युत्पत्ति- यह काव्य का एक और हेतु है। व्युत्पत्ति का सामान्य अर्थ है- लोकव्यवहार, शास्त्र, काव्य आदि का सम्यक् अध्ययन अनुशीलन करके उन सभी का ज्ञान प्राप्त कर लेना। कवि की रचना में सभी विषयों का वर्णन होता है। संसार

में कोई वस्तु, कोई विषय ऐसा नहीं है जो काव्य में न आ सकता हो। यदि कवि में व्युत्पत्ति नहीं होगी तो उसके वर्णनों में सहजता तथा औचित्य भी नहीं हो सकेगा। और ऐसी स्थिति में वह काव्य उपसहनीय होकर पाठकों को प्रभावित ही नहीं करेगा।

भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार (1/9-10) में स्पष्ट कहा है कि काव्य की रचना करने वाले को पहले शब्दशास्त्र, छन्दशास्त्र, इतिहास, कथा, कोष, दर्शन, कला, लोकवृत्त आदि का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए तथा साथ ही अन्य काव्यरचनाओं का भी अवलोकन करना चाहिए।

आचार्य वामन ने भी लोकव्यवहार एवं शास्त्रों काव्यों के अध्ययन को व्युत्पत्ति में मानकर उसे भी काव्य हेतु माना (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/3/2,3)

आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा और उसे परिभाषित करते हुए कहा- लोक, काव्य, शास्त्र आदि के अवेक्षण से निपुणता होती है-

'.........**निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणाद्।**' काव्यप्रकाश 1/3

इसकी और अधिक व्याख्या मम्मट ने इस कारिका की वृत्ति में कर दी- **'लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणाभिधानकोष-कलाचतुर्वर्गगजतुरगखंगादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसंबिन्धिनां, आदि ग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः।'**

अर्थात्- लोक अर्थात् स्थावरजंगमरूप संसार के व्यवहार के, शास्त्र अर्थात्, छन्द, व्याकरण, संज्ञा शब्दों के कोश, कला (चौसठ प्रकार की कलाओं के लक्षण ग्रन्थों) चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थों), हाथी-घोड़े-खंग आदि के लक्षणग्रन्थो, महाकवियों द्वारा रचे गए काव्यों के तथा आदि पद के ग्रहण से (सूचित) इतिहास आदि के विमर्शन से व्युत्पत्ति होती है जिसे निपुणता कहते हैं।

आचार्यों द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्ति/ निपुणता के इस विवेचन से स्पष्ट है कि लोकव्यवहार, काव्य, शास्त्र, इतिहास आदि के गहन अवलोकन और अध्ययन से उत्पन्न विवेक तथा औचित्य-अनौचित्य का ज्ञान व्युत्पत्ति में समाविष्ट होता है।

अभ्यास- अभ्यास को काव्यरचना का तृतीय हेतु प्रतिपादित किया गया था। कुछ आचार्यों ने अभ्यास को काव्यरचना में प्रतिभा के समकक्ष स्थान दिया; जबकि कुछ अन्य आचार्यों ने अभ्यास को प्रतिभा का सहायक मात्र स्वीकार किया।

आचार्य भामह (काव्यालंकार 1/9-10) तथा आचार्य वामन (काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति 1/3/11) दोनों ने ही काव्य जानने-समझने वाले वृद्धजनों की सेवा को काव्य की शिक्षा के लिए अनिवार्य माना था।

आचार्य मम्मट ने काव्य हेतु के रूप में अभ्यास की अत्यन्त विशदरूप से स्पष्ट व्याख्या की-

काव्यं कर्तुं विचारयितुं ये जानन्ति, तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिः इति। काव्य प्रकाश 1/3 की वृत्ति

तदनुसार यदि व्यक्ति काव्य रचने का इच्छुक है तो उसे ऐसे विद्वानों की सेवा करनी चाहिए जो काव्यरचना और उसके गुण दोषों का विचार करना जानते हैं। ऐसे काव्यज्ञ वृद्धों के उपदेश से कवि विषय के अनुरूप शब्द और अर्थ की योजना करता है और विभिन्न दोषों को दूर करके काव्य रचता है। इसी प्रक्रिया की पुनः पुनः प्रवृत्ति अभ्यास है।

आचार्य बल्देव उपाध्याय के शब्दों में ''इस ऐतिहासिक विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्य का मुख्य हेतु **शक्ति** या **प्रतिभा** है। यह एक जन्मान्तरीय संस्कार है जो जन्म से पैदा होता है और विद्या के अभ्यास से धीरे-धीरे विकसित होता है। दूसरे हेतु का नाम **निपुणता** या **व्युत्पत्ति** है जो लोक तथा शास्त्र के अवेक्षण और अनुशीलन से उत्पन्न होती है। कवि का क्षेत्र नितान्त विस्तृत होता है। ऐसी कौन विद्या नहीं जिसकी जानकारी कवि को नही होनी चाहिए। संसार के विषयों का निरीक्षण कवि का परम धर्म है। इस विषय की जानकारी के लिए आलंकारिकों ने 'कवि शिक्षा' के विषयों में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें कवियों के लिए उपादेय ज्ञानसाधनों से परिचय कराने की उपयोगी सामग्री संकलित हैं। अभ्यास तीसरा काव्य हेतु है। काव्य करने वाले तथा उसकी आलोचना करने वाले विद्वानों की शिक्षा से कविकर्म में अभ्यास उत्पन्न होता है। सैद्धान्तिक रूप से काव्य के रूप, तत्त्व तथा मर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं होता; प्रत्युत्त कवि को व्यावहारिक रूप से कविता बनाने की कला का सीखना भी आवश्यक होता है।

काव्य का लक्षण

काव्य किसे कहते हैं? काव्यत्व कहां या किसमें निहित होता है? काव्य की परिभाषा क्या है? इस समस्या के समाधान रूप में काव्यशास्त्र की परम्परा में प्रारंभ से ही आचार्यों ने अपनी अपनी मान्यता के अनुसार काव्य की परिभाषा अथवा काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया।

आचार्य भामह- इनका काव्य लक्षण सबसे प्राचीन और अत्यन्त संक्षिप्त है-

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्....। काव्यालंकार 1/16

भामह ने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना। लक्षण में 'सहितौ' शब्द का क्या अर्थ उन्हें अभिप्रेत था, इसकी व्याख्या उन्होंने नहीं कही। आचार्य विश्वेश्वर ने इस शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाया है- 'उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो, वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं।''

आचार्य दण्डी- दण्डी का काव्य लक्षण इस प्रकार है-

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श 1/10

अर्थात् इष्ट अर्थ से सम्पन्न पदावली काव्य है। इस लक्षण से ज्ञात होता है कि दण्डी ने भामह के विचार को ही स्पष्ट करते हुए मनोरम अर्थ से युक्त पदसमूह को काव्य का शरीर माना। किन्तु इस शरीर (काव्य) की आत्मा का अनुसंधान नहीं किया।

आचार्य वामन- वामन ने काव्य की आत्मा का कथन करते हुए स्पष्ट कहा-

रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकारसूत्र 1/2/6

रीति को काव्य की आत्मा घोषित करके वामन ने रीति सम्प्रदाय की स्थापना तो की ही, साथ ही 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' सूत्र के द्वारा अलंकारों को काव्य की उपादेयता का प्रयोजक भी कहा।

आचार्य रुद्रट- इनके अनुसार शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर) काव्य हैं-

'शब्दार्थौ काव्यम्'- काव्यालंकार 2/1

आनन्दवर्धन- ध्वनिमत के संस्थापक आनन्दवर्धन ने काव्य शरीर और काव्य की आत्मा-दोनों का कथन किया-

सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणं। ध्वन्यालोक 1/1 की वृत्ति। अर्थात् सहृदयजनों के हृदय को आह्लादित कर देने वाली शब्दार्थमयता ही काव्य का लक्षण है। किन्तु साथ ही आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा अथवा जीवनाधायक तत्व माना। उनके मत में ध्वनि रूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने से ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

भोज- इनके अनुसार काव्य दोषरहित, गुणसहित, अलंकृत तथा रसयुक्त होता है-

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं....। सरस्वतीकण्ठाभरण 1/2

मम्मट- मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्यलक्षण अत्यधिक समादृत हुआ-

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।। काव्यप्रकाश 1/4

दोषरहित, गुणसहित तथा सालंकार शब्दार्थयुगल ही काव्य है। कदाचित

स्फुट अलंकार न होने पर भी अदोष और सगुण शब्दार्थयुगल काव्य ही रहते है।

आचार्य विश्वनाथ- इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण की बहुत आलोचना की और रस को ही काव्य का लक्षण माना-

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण 1/3.

आचार्य जगन्नाथ- इन्होंने अपने काव्य लक्षण में शब्द को प्रधानता दी-

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर- पृष्ठ 2

अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपन्न करने वाला शब्द काव्य है।

उपर्युक्त सारी आचार्य परम्परा के काव्यलक्षणों को स्पष्टतः तीन वर्गों में रखा जा सकता है-

(क) भामह, रुद्रट, मम्मट, आदि ने शब्दार्थयुगल को काव्य कहा। (मम्मट के अनुसार) शब्दार्थयुगल में दोषराहित्य, गुणसाहित्य तथा अलंकृति हो।

(ख) दण्डी, जगन्नाथ आदि ने केवल शब्द को काव्य कहा किन्तु यह शब्द भी विशिष्ट रमणीय अर्थ से सम्पन्न होना चाहिए।

(ग) भोज, विश्वनाथ ने शब्द एवं अर्थ को अधिक महत्व न देकर रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना।

इन सारे काव्यलक्षणों में मम्मट प्रतिपादित लक्षण सबसे अधिक परिष्कृत तथा वैज्ञानिक है। मम्मट के लक्षण की यदि प्रतिपद व्याख्या तथा विवेचना कर ली जाए तो काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप भी प्रगट हो जाता है तथा प्रायः अन्य सभी आचार्यों के मत भी विश्लेषित हो जाते हैं।

शब्दार्थौ- मम्मट तथा कुछ अन्य आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को काव्य कहा। किन्तु आचार्य जगन्नाथ ने 'शब्दार्थौ' पर कठोर प्रहार करते हुए काव्यत्व को शब्दनिष्ठ कहा। उसके लिए उन्होंने अनेक युक्तियां दी, किन्तु जगन्नाथ कृत 'रसगंगाधर' के टीकाकार नागेश भट्ट ने ही जगन्नाथ का खंडन कर दिया। स्वयं जगन्नाथ ने भी प्रत्येक शब्द में काव्यत्व नहीं माना था अपितु वे भी 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते हैं। रसास्वादन की अभिव्यंजना करना काव्य का प्रयोजन है और यह शब्द तथा अर्थ में समान रूप से रहता है। अतः मम्मट के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनों समवेत रूप में काव्यपद वाच्य होते हैं और यही मानना उचित है।

अदोषौ- आचार्य मम्मट ने 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण दिए, उनमे एक है- शब्दार्थ दोषरहित होना चाहिए। स्वयं मम्मट ने दोष का लक्षण (काव्यप्रकाश 7/49) करते हुए कहा कि 'मुख्य अर्थ का विघात करने वाला दोष है और काव्य में

मुख्य रस ही है।' आचार्य विश्वनाथ ने भी रस के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहा था- **'रसापकर्षका: दोषा:** (साहित्यदर्पण 7/1)। फिर भी साहित्यदर्पणकार ने काव्य के लक्षण में 'अदोषौ' विशेषण दिए जाने की अत्यन्त कटु आलोचना की। उनके अनुसार अदोषौ पद के दो अर्थ हो सकते हैं- (1) दोषों से सर्वथा रहित, (2) ईषत् दोष रहित। इन दोनों अर्थों की संगति नहीं हो सकती, क्योंकि

(1) दोषों से पूर्णतया रहित काव्य का मिलना दुर्लभ है।

(2) ईषत् दोष रहित अर्थ लेने पर सर्वथा दोषरहित उक्ति को भी काव्य नहीं कहा जा सकेगा।

किन्तु आचार्य विश्वनाथ के ये आक्षेप उचित नहीं है। मम्मट के द्वारा काव्य लक्षण में 'अदोषौ' पद रखने का अभिप्राय रस का अपकर्षण करने वाले दोषों से था। काव्यदोष दो प्रकार के होते हैं- नित्यदोष तथा अनित्य दोष। नित्य दोष रस का विघात कर देते हैं अत: काव्य में नित्य दोष नहीं होने चाहिए।

सगुणौ- काव्य के प्रसाद, माधुर्य और ओज- ये तीन गुण होते हैं और शब्दार्थ किंवा काव्य को गुणयुक्त होना चाहिए। वस्तुत: काव्य में प्रमुख रूप में स्थित रसों के प्रसादादि गुण होते हैं। रस की स्थिति के साथ वे गुण अवश्य रहते हैं और निश्चित रूप से रस का उपकार करते हैं-

ये रसस्यांगिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा:।।

काव्यप्रकाश 8/66

मम्मट द्वारा प्रस्तुत इस गुणलक्षण में सगुणौ पद के द्वारा काव्य में रसवत्ता का स्वयं ग्रहण हो जाता है। रस सूक्ष्म एवं अलक्ष्य पदार्थ है, गुण स्थूल एवं लक्ष्य होते हैं। रसाभिव्यक्ति के लिए काव्यगुणों की अनिवार्यता होती है। अत: मम्मट के काव्यलक्षण में शब्दार्थों के लिए सगुणौ विशेषण नितान्त उपयुक्त है।

अनलंकृती पुन: क्वापि- काव्यरूपी शब्दार्थ युगल को सालंकार होना चाहिए। किन्तु यदि कदाचित् स्फुटतया अलंकार प्रतीति न हो, तो भी रसमयता के कारण वह काव्य ही रहेगा। 'अनलंकृती पुन: क्वापि' के उदाहरण रूप में मम्मट ने जो श्लोक (य: कौमारहर: स एव हि वर:- काव्यप्रकाश 1/4 का उदाहरण) दिया है उसके लिए उन्होंने स्वयं कहा कि इसमें स्फुटतया कोई अलंकार नहीं है, रस की प्रधानता है।

मम्मट के इस मत से अलंकारवादी आचार्य अप्रसन्न हुए और उन्होंने अनेक आक्षेप भी किए, किन्तु अन्य आचार्यों ने मम्मट के मत को युक्तियुक्त सिद्ध कर दिया।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में द्विवचनान्त शब्दार्थौ पद के लिए 'तत्' एकवचन भी साभिप्राय किया है। वे शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते हैं। तदनुसार न तो केवल शब्द काव्य है और न केवल अर्थ काव्य है। अपितु शब्द और अर्थ सम्मिलित रहकर, सहित होकर ही काव्य पद वाच्य होते हैं।

काव्य के भेद

काव्यशास्त्रीय आचार्यो ने काव्य के भेदों का भी निरूपण किया था। ये भेद विधाओ की दृष्टि से हुए हैं। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ में मुख्यतया दृश्यकाव्य का वर्गीकरण किया। तदनन्तर अनेक आचार्यों ने यह निरूपण अधिक विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया।

काव्य के मुख्यतः दो भेद किए गए है- **दृश्य** एवं श्रव्य।

1. **दृश्यकाव्य**- यह अभिनेय होता है तथा इसे नाट्य, रूपक या रूप कहा जाता है। इनमें से रूपक शब्द का प्रचलन सबसे अधिक रहा। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में 10 रूपकों और एक (ग्यारहवीं) नाटिका का लक्षण प्रस्तुत किया (नाट्यशास्त्र 18/ 2, 3)। इनके नाम इस प्रकार है-

1. नाटक, 2. प्रकरण, 3. अंक, 4. व्यायोग, 5. भाण, 6. समवकार, 7. वीथी, 8. प्रहसन, 9. डिम, 10. ईहामृग।

दशरूपककार **धनञ्जय** ने भी भरत के अनुसरण में उन्हीं दस रूपकों और एक नाटिका का कथन किया (दशरूपक 1/--)

नाट्यदर्पण के रचयिता **रामचन्द्र गुणचन्द्र** ने रूपकों की संख्या का बहुत विस्तार कर दिया। भरत और धनंजय कथित ग्यारह रूपकों में उन्होंने प्रकरणिका और जोड़कर रूपकों की संख्या बारह कर दी। (नाट्यदर्पण 1/3--4)। किन्तु पुनः रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 23 और रूपक भी गिनाए-

सट्टक, श्रीगदित, दुर्मिलिता, प्रस्थान, अपसार, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तक, शम्या, लास्य, छलित, प्रेक्षणक, रासक, पिण्डी, श्रृंखला, मेद्यक, नाट्यरासक, काव्य, शुद्ध, संकीर्ण, चित्र, भणक, भणिका।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में दृश्य काव्य के दो विभाग करके उन्हें रूपक और उपरूपक नाम दिया। (साहित्यदर्पण 6/4-5) उन्होंने भरत कथित दस रूपकों के भेद परम्परागत ही उल्लिखित किए, किन्तु उपरूपकों की संख्या अठारह गिनाई-

नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण,

रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश, भाणिका।

2. श्रव्य काव्य- श्रव्य काव्य में भी विधा दृष्टि से पुनः तीन भेद हो जाते हैं- पद्य, पद्यगद्यमय एवं गद्य।

पद्यकाव्य पुनः तीन प्रकार का हो सकता है-

(क) महाकाव्य- आचार्यों ने महाकाव्य की परिभाषा अथवा शास्त्रीय लक्षण अपने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किए, जिनमें आचार्य दण्डी द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के सामान्य लक्षण सर्वमान्य हुए (काव्यादर्श 1/14-19)। तदनुसार-

- महाकाव्य के प्रारंभ में मंगलाचरण (नान्दी) का विधान ऐसा हो जिससे आशीर्वाद, नमस्कार अथवा कथावस्तु का निर्देश होता हो।
- महाकाव्य की कथावस्तु नितान्त काल्पनिक न होकर पौराणिक आख्यान अथवा ऐतिहासिक कथानक युक्त हो, जिसमे सज्जनों का उत्कृष्ट चरित्रचित्रण प्राप्त हो।
- महाकाव्य का नायक देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न उच्चकुलोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। नायक एक हो अथवा (एक ही वंशमें उत्पन्न) अनेक भी हो सकते हैं।
- महाकाव्य में शृंगार अथवा वीर में से एक रस मुख्य (अंगी) होना चाहिए तथा अन्य रस गौण रूप में हों।
- महाकाव्य सर्गों में विभाजित हो जो समानुपातिक हों (ये संख्या में आठ या अधिक हों।)
- महाकाव्य में यथास्थान नगर, समुद्र, पर्वत, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान, क्रीड़ा, जलक्रीडा, विवाह, विप्रलम्भ आदि का चित्रण तथा अलंकार प्रयोग होना चाहिए।
- महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हो। सर्गान्त श्लोकों में छन्द परिवर्तन कर देना चाहिए।
- महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से एक अथवा अनेक की प्राप्ति होना चाहिए। एतदर्थ इसमें धर्म तथा न्याय की विजय और अधर्म तथा अन्याय का विनाश दिखाया जाना चाहिए।

(ख) खण्डकाव्य-इसी को प्रायः गीतिकाव्य भी कहा जाता है। इसके लिए आचार्यों ने कोई भी निश्चित नियमादि निर्धारित नही किए। खण्डकाव्य का कलेवर महाकाव्य की अपेक्षा पर्याप्त छोटा होता है और उसमें जीवन की समग्रता की

अपेक्षा एकांगी विषय का ही प्रस्तुतीकरण होता है।

(ग) गद्यपद्यमय- इसको **चम्पूकाव्य** का नाम दिया गया है। आलंकारिकों ने गद्य और पद्य मिश्रित काव्य रूप को मिश्रकाव्य कहा था। चम्पूकाव्य मिश्रकाव्य का रूप है। चम्पूकाव्य में गद्य और पद्य प्राय: समानुपात होते हैं।

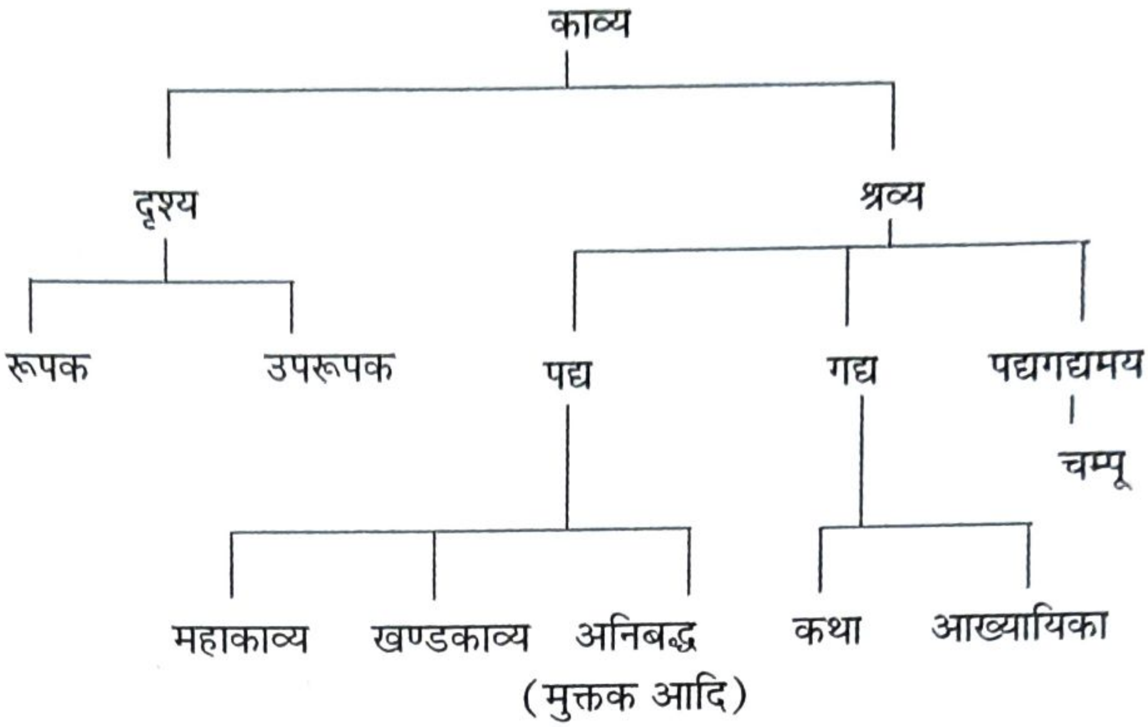
पद्यकाव्य में एक और भी भेद प्राप्त होताहै- मुक्त पद्य। इन्हें अनिबद्ध काव्य भी कहते हैं। इसमें एक, दो या कुछ अधिक श्लोकों में अन्य श्लोकों से सम्बन्ध हुए बिना ही काव्यत्व निहित होता है।

- एक श्लोक स्वत: सम्पूर्ण होने पर मुक्तक काव्य कहलाता है।
- परस्पर सम्बद्ध दो श्लोकों को युग्मक काव्य कहते हैं।
- परस्पर सम्बद्ध तीन श्लोकों की रचना सन्दानितक कहलाती है।
- चार परस्पर श्लोकों की रचना कलापक कहलाती है।

गद्य- छन्दरहित काव्य रचना गद्य काव्य है। प्राचीन आचार्यों ने गद्यकाव्य के मुख्य रूप से दो भेद किए थे- कथा और आख्यायिका (भामह- काव्यालंकार 1/25-29, दण्डी- काव्यादर्श 1/23--30, विश्वनाथ- साहित्यदर्पण 6/332-336)। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में दो भेदों के अतिरिक्त गद्य के दस प्रभेद भी सोदाहरण प्रस्तुत किए। किन्तु वे दस प्रभेद सर्वस्वीकृत नहीं हो सके। विभिन्न आचार्यों के मतों का सार संक्षेप इस प्रकार है-

- आख्यायिका की कथावस्तु इतिहास से ग्रहण की जाती है। तथा उसमें तथ्यपूर्ण घटनाओं का समावेश होता है; किन्तु कथा का इतिवृत्त काल्पनिक होता है।
- आख्यायिका में वक्ता स्वयं नायक ही होना चाहिए, अर्थात् वस्तुकथन उत्तम पुरुष में होना चाहिए; किन्तु कथा में वक्ता स्वयं नायक या अन्य कोई व्यक्ति भी हो सकता है।
- आख्यायिका को उच्छ्वासो में विभक्त किया जाता है तथा भावी घटनाओं की व्यंजना के लिए वक्त्र तथा अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है; किन्तु कथा में यह सब नहीं पाया जाता। (आचार्य विश्वनाथ ने कथा में भी कही कहीं उपर्युक्त छन्दों तथा आर्या के प्रयोग का कथन किया है। सम्भवत: कादम्बरी को ध्यान में रखकर उन्होंने यह विधान किया हो।)
- आख्यायिका में कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ, नायक की उन्नति, विपत्तियां आदि विभिन्न वर्णन पाए जाते हैं, किन्तु कथा में ये वर्णन अनिवार्य नहीं।
- आख्यायिका केवल संस्कृत में रची जाती है किन्तु कथा संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश में भी रची जा सकती है।

विधा के अनुसार काव्य का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।



काव्य का आत्मतत्त्व

किसी भी साहित्यिक अध्ययन के कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जो उस साहित्य की सभी विधाओं के लिए समान होते हैं। यही पक्ष साहित्यशास्त्र किंवा काव्यशास्त्र है। काव्यशास्त्र में भी काव्य के अनेकानेक पक्षों का शास्त्रीय विवेचन होता है, किन्तु इस शास्त्र का चरम प्रयोजन काव्य में अन्तस्तत्त्व को खोजना है। काव्य में कोई एक तत्त्व ऐसा होता है जो उसकी आत्मा है। जिस प्रकार शरीर में आत्मा ही प्रमुखतम है क्योंकि उसके बिना शरीर की गति-स्थिति ही नहीं हो सकती। उसी प्रकार काव्य में कोई आत्मस्थानीय तत्त्व ऐसा होना चाहिए जिसके कारण 'काव्य में सौन्दर्य, आकर्षण एवं आह्लादकत्व निहित रहता है तथा वह काव्य कहलाता है।'

साहित्यशास्त्र की सम्पूर्ण परम्परा के कालविभाग में पहले भी कुछ सम्प्रदायों के नाम आ चुके हैं। विभिन्न सम्प्रदायों की स्थिति का कारण यही रहा कि साहित्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने काव्य की आधारभूत परम सत्ता को भिन्न-भिन्न रूपों में व्याख्यायित किया, और अपने अपने पक्ष के लिए विभिन्न तर्क भी प्रस्तुत किए। काव्यात्मभूत तत्त्व के विषय में इसी मतभेद के कारण काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति अथवा स्थापना हुई। आचार्य नन्दिकेश्वर और आचार्य भरत (लगभग 300 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व) से लेकर पण्डित जगन्नाथ (17वीं शती ईस्वी) तक काव्यशास्त्र की परम्परा अविच्छिन्न रही। इस सुदीर्घ परम्परा में अनेक वादों, विचारों और सम्प्रदायों की स्थापना एवं निर्वासन हुआ, जिनमें छह सम्प्रदाय सर्वाधिक चर्चित हुए।

इस विचार सरणि में कुछ आचार्यों का मत यह रहा कि काव्य में रस ही वह सबसे प्रमुख तत्त्व है जिसके कारण सहृदय काव्य की ओर आकृष्ट होते हैं और जिसके आस्वादन से एक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। कुछ अन्य आचार्यों ने प्रतिपादित किया कि शब्द और अर्थ

काव्य का शरीर है; अलंकार इस शब्दार्थरूपी शरीर को अलंकृत करते हैं और अलंकारों के कारण सहृदय आह्लादित होते हैं। अत: काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व अलंकार है। कतिपय आचार्यों ने कहा कि पदों की संघटना रीति कहलाती है अत: काव्य की आत्मा रीति है। कतिपय अन्य आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। वैचित्र्यपूर्ण उक्ति को वक्रोक्ति कहा जाता है। इसी वैचित्र्य के कारण काव्य में आकर्षण तथा आह्लादकत्व आता है अत: वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। एकाधिक आचार्यों ने औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया। उनके अनुसार औचित्य के बिना काव्य में काव्यत्व ही नहीं रह सकता, अत: काव्य की आत्मा औचित्य को मानना चाहिए। अन्य आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया कि व्यङ्ग्य अर्थ के कारण काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है। 'काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ के प्रधान होने पर वह ध्वनिकाव्य कहलाता है। यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।'

इस प्रकार विभिन्न कालखण्डों में जितने भी आचार्य हुए, उन्होंने इन छह सम्प्रदायों में उल्लिखित काव्य के किसी न किसी आत्मतत्व के पक्ष का पोषण और संवर्धन किया। अत: स्पष्ट है कि यदि इन छह सम्प्रदायों का अध्ययन कर लिया जाए, तो सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जा सकता है–

रस सम्प्रदाय	–	नन्दिकेश्वर, भरत
अलंकार सम्प्रदाय	–	भामह, रुद्रट, उद्भट,
रीति सम्प्रदाय	–	दण्डी, वामन,
वक्रोक्ति सम्प्रदाय	–	कुन्तक,
औचित्य सम्प्रदाय	–	क्षेमेन्द्र,
ध्वनि सम्प्रदाय	–	आनन्दवर्धन, मम्मट

इन सम्प्रदायों के सम्बन्ध में आचार्य राजानक रुय्यक विरचित 'अलंकार सर्वस्व' के प्रारंभिक टीकाकार समुद्रबन्ध (केरल प्रदेशीय यदुवंशी महाराज के सभापण्डित–13वीं शती ईस्वी उत्तरार्ध) ने एक नया ही प्रकाश डाला–

''इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यम् धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन चेति त्रय: पक्षा:। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपिभणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरंगीकृत:, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन।''

समुद्रबन्ध का अभिप्राय है कि 'यहां विशिष्ट शब्द और अर्थ ही काव्य है।

शब्द और अर्थ का यह वैशिष्ट्य धर्म के द्वारा, व्यापार के द्वारा और व्यङ्ग्य के द्वारा इस प्रकार तीन पक्ष वाला है। धर्म की विशिष्टता अलंकार के द्वारा और या गुण के द्वारा इस प्रकार दो प्रकार की हो सकती है। व्यापार की विशिष्टता वक्रोक्ति के द्वारा और या भोजकत्व के द्वारा दो प्रकार की होती है। इस प्रकार इन पांच पक्षों में प्रथम (अलंकार पक्ष) उद्भट आदि के द्वारा अंगीकार किया गया। दूसरा पक्ष (गुण-रीति) वामन के द्वारा, तीसरा पक्ष (भणिति वैचित्र्य- वक्रोक्ति) कुन्तक के द्वारा, चौथा पक्ष (भोजकत्व) भट्टनायक के द्वारा और पांचवां (व्यङ्ग्य) आनन्दवर्धन के द्वारा स्वीकृत हुआ।'

समुद्रबन्ध के इस नवीन विश्लेषण में औचित्य सम्प्रदाय का संकेत भी नहीं है। यह सम्भव है कि समुद्रबन्ध को औचित्य में कोई विशिष्टता दृष्टिगोचर न हुई हो। किन्तु परवर्ती समय में क्षेमेन्द्र के औचित्य को भी सम्प्रदाय रूप में परिगणित किया गया।

उपर्युक्त समस्त विवेचन को निम्नलिखित रूप में स्पष्टतया प्रदर्शित किया जा सकता है-

शब्द और अर्थ में वैशिष्ट्य उत्पन्न करने के तीन कारण

- धर्म
  - अलंकार — उद्भट आदि आचार्य
  - गुण (या रीति) — आचार्य वामन
- व्यापार
  - वक्रोक्ति — आचार्य कुन्तक
  - भोजकत्व (रस) — भट्टनायक
- व्यङ्ग्य
  - ध्वनि — आनन्दवर्धन

काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में इन्हीं छह सम्प्रदायों की पृथक् विस्तृत विवेचना करना अब प्रसंग प्राप्त है।

रससम्प्रदाय

काव्य के आत्मतत्त्व के विवेचन के क्रम में साहित्यशास्त्र में विभिन्न तत्त्वों को प्रमुखता देने की दृष्टि से जो छह सम्प्रदाय स्थापित हुए, उनमें कदाचित् सबसे प्रमुख और प्राचीनतम रससम्प्रदाय है। राजशेखर के 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ के प्रमाण पर रससिद्धान्त के प्रथम आचार्य नन्दिकेश्वर थे तथा सर्वप्रथम भरत ने रूपकों का

निरूपण किया, ''रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः'- काव्यमीमांसा, पृ. 4-5। किन्तु नन्दिकेश्वर का ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है। सम्प्रति आचार्य भरत ही रस-सिद्धान्त के आद्याचार्य स्वीकृत किए जाते हैं। आचार्य भरत का '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्तिः**' वाक्य रससूत्र कहलाया। भरत ने '**न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते**' कह कर रस को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित किया और '**अष्टौ नाट्यरसाः**' के द्वारा रसों की संख्या भी निर्धारित की। भरत ने अपने ग्रन्थ में विभिन्न रसों के विभावों, अनुभावों और व्यभिचारि भावों का भी विशद विवेचन किया। अपने पूर्वाचार्यों की विभिन्न मान्यताओं का सम्यक् उपयोग करते हुए आचार्य भरत ने अपने मत को प्रौढ़ि प्रदान की। इसलिए 'साहित्य शास्त्र के पितामह भरत को ही रससम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है। रससम्प्रदाय के सभी आचार्य अपने मत को भरत के रससूत्र के आधार पर ही प्रस्तुत करते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य में 'रस' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। वेद-वेदांग से लेकर रामायण महाभारत तक रस शब्द अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। कोष ग्रन्थों में 'रस' शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त हैं- भोजन के तिक्त-कटु आदि छह रस, स्वाद, विष, पारद, वीर्य, राग, द्रव आदि आदि। उपनिषद् ने तो परमात्मा को भी रस कहा है- **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।।** तैत्तिरीय उपनिषद् 2/7।। किन्तु साहित्य में जब रस शब्द का प्रयोग होता है तो उससे शृंगारादि रसों का ही बोध होता है।

व्याकरण की दृष्टि से रस शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है-

1. **रस्यते अनेन इति रसः**- जिन पदार्थों के द्वारा आस्वादन किया जाता है, वे रस कहलाते हैं, यथा- शरीर, शब्द, वीर्य आदि रस कहलाते हैं।
2. **रसति रसयति वा इति रसः**- जो व्याप्त हो जाता है या व्याप्त कर लेता है, उसे रस कहते हैं, यथा- जल, पारद, शरीर की रस धातु अथवा अन्य द्रव पदार्थ रस कहलाते हैं।
3. **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः**- जिन पदार्थों का आस्वादन किया जाता है, वे रस कहलाते हैं, यथा- मधुर पदार्थ, गन्ध, मधु, परमात्मा आदि पदार्थों को रस कहा जाता है।
4. **रसनं रसः आस्वाद**- आस्वाद को रस कहते हैं। यथा शृंगार आदि आस्वाद रूप होने के कारण रस है।

उपर्युक्त चार व्युत्पत्तियों में से तीसरी और चौथी व्युत्पत्ति साहित्यिक दृष्टि से रसों के लिए प्रयुक्त की जा सकती है; क्योंकि शृंगारादि रसों का आस्वादन किया

जाता है और वे आस्वाद रूप होते हैं।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रससूत्र प्रस्तुत किया था- "**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः**"। अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। इसी सूत्र को तनिक अधिक स्पष्ट करते हुए परवर्ती आचार्यों ने प्रतिपादित किया कि यह रस रति, शोक, उत्साह, हास आदि स्थायी भावों के रूप में मनुष्य के हृदय में स्थित रहता है। विभावों,अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट तथा उद्बुद्ध होकर स्थायी भाव ही रस के रूप में आस्वाद्यमान होते हैं (काव्यप्रकाश 4/27-28; साहित्य-दर्पण 3/1.) विभावादि को कवि अथवा नट प्रस्तुत करते हैं, तथापि रस का आस्वादन प्रमाता अथवा प्रेक्षक को ही होता है। इस सम्प्रेषण की प्रक्रिया क्या है? इसी प्रश्न को लेकर आचार्यों में परस्पर मतवैभिन्य उत्पन्न हुआ। प्रमदा आदि आलम्बन विभाव; ज्योत्स्ना, नदीतट, प्राकृतिक दृश्य आदि उद्दीपन विभाव; कटाक्ष, अश्रु, रोमांचादि अनुभाव तथा निर्वेद, ग्लानि आदि तैंतीस व्यभिचारी (संचारी) भाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किए। किन्तु भरत के रससूत्र में आए हुए 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्ति' इन दो पदों को लेकर ही आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए। अभिनवगुप्त के समय तक रससम्बन्धी जितने भी मत प्रचलित थे, उन सभी का संग्रहण अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की अपनी टीका 'अभिनवभारती' में तथा ध्वन्यालोक की अपनी लोचन टीका में किया तथा भरत के रससूत्र की अत्यन्त प्रामाणिक तथा बहुसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की। उस समय भट्टलोल्लट, भट्टनायक तथा शंकुक की समीक्षाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; किन्तु उन्हीं के विरोधी आचार्यों के ग्रन्थों में वे समीक्षाएं उपलब्ध हो जाती हैं। तदनुसार रसविषयक चार प्रमुख सिद्धान्त अथवा मत दृष्टिगोचर होते हैं-

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद- इनका मत 'उत्पत्तिवाद' नाम से प्रसिद्ध है। लोल्लट ने रससूत्र के 'संयोगात्' पद का अर्थ 'उत्पाद्यउत्पादकसम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' किया। भट्टलोल्लट मीमांसक एवं अभिधावादी थे और इसका प्रभाव इनके रसविषयक सिद्धान्त पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विभाव, अनुभाव, तथा संचारी भाव- इन सभी के सम्यक् योग से रस की उत्पत्ति होती है। विभाव उत्पादक है एवं रस उत्पाद्य हैं। अनुभावों से रस प्रतीति योग्य होता है, अतः अनुभाव प्रतिपादक हैं तथा रस प्रतिपाद्य हैं। संचारी भाव पोषक है तथा रस पोष्य है क्योंकि संचारी भावों से ही रस परिपुष्ट होता है। इस प्रकार विभावादि कारण सामग्री से रस रूप कार्य उत्पन्न होता है। यह

रस मुख्यत: अनुकार्य रामादि में उत्पन्न होता है। जब कोई नट अपनी प्रतिभा और योग्यता के द्वारा अनुकार्य रामादि का अनुकरण करता हुआ अभिनय करता है तो सामाजिक उस नट में रामत्वादि के आरोपण से नट में भी रस मान लेते हैं। इस आरोपण-रूप क्षणिक भ्रान्ति से दर्शकों को भी उस चमत्कार की अनुभूति होती है जिसे हम रस कहते हैं-

डॉ. कृष्णकुमार कहते हैं- इस व्याख्या का भाव यह है कि जिस प्रकार सीपी में रजत के न होने पर भी दर्शकों में उसके रूप के कारण रजत की भ्रान्ति होती है और उसको देखकर वे प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार रामादिगत रति अभिनेताओं में न होने पर भी वह सामाजिकों को उनमें प्रतीत होती है तथा उस भ्रान्ति से वे आनन्द का अनुभव करते हैं।''

किन्तु भट्टलोल्लट के उपर्युक्त मत में दो मुख्य त्रुटियां रहीं-

1. लोल्लट ने विभावादि को कारण और रस को कार्य माना। संसार में कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य की सत्ता बनी रहती है। जैसे कुम्भकार आदि कारणों के नष्ट हो जाने परभी घट आदि कार्य विद्यमान रहता है। किन्तु काव्य के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। विभावादि कारण सामग्री के नष्ट होने पर रस कार्य भी नष्ट हो जाता है अत: रस उत्पाद्य या कार्य नहीं है।
2. लोल्लट ने रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्य रामादि में मानी और नट में भी प्रतीयमान कही; किन्तु सामाजिक में रस की सत्ता नहीं मानी अपितु रस की क्षणिक भ्रान्ति ही मानी। यदि सामाजिक दर्शक में रस की स्थिति ही न हो, तो वह काव्य या नाट्य की ओर प्रवृत्त ही नहीं होगा।

इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद मत का अनेकश: खण्डन कर दिया।

भट्ट शंकुक का अनुमितिवाद- ये नैयायिक थे और इन्होंने रस की उत्पत्ति न मानकर रस की अनुमिति मानी। शंकुक ने रससूत्र के 'संयोगात्' पद का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापकसम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' माना। अतएव इनका सिद्धान्त 'अनुमितिवाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भट्ट शंकुक के अनुसार विभावादि अनुमापक होते हैं और रस अनुमाप्य हैं। रंगमंच पर किसी कुशल नट के अभिनय के कारण सामाजिक उस नट को रामादि अनुकार्य पात्र समझ लेता है। नट में राम की यह प्रतीति एक ऐसा विलक्षण ज्ञान है जो सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय और सादृश्य प्रतीति- इन चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है। यह प्रतीति चित्रतुरगादिवत् है। जिस प्रकार चित्रलिखित तुरग वास्तविक

न होने पर भी घोड़ा ही माना जाता है, उसी प्रकार अनुकार्य रामादि से भिन्न होने पर पर भी नट अपने अभिनय कौशल के कारण राम से अभिन्न मान लिया जाता है। जो रस वस्तुतः रामादि में था, वही अनुमान द्वारा नट में आरोपित हो जाता है। सामाजिक उस नट के कृत्रिम विभावादिकों को कृत्रिम न मानता हुआ उनसे रति आदि भावों की अनुमिति कर लेता है। काव्यगत यह अनुमिति शास्त्रोक्त अनुमिति से भिन्न है क्योंकि सामान्य अनुमिति प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है, किन्तु काव्यगत अनुमिति परोक्षात्मक है। अतः नट में रत्यादि स्थायी भावों के न होने पर भी सामाजिक अपनी हृदयगत वासना के द्वारा नट में उन भावों की अनुमिति करता हुआ रसास्वादन करता है।

डॉ. कृष्णकुमार एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं- ''भाव यह है कि किसी स्थान पर धूम के न होने पर भी धुंध आदि को धूम समझ कर उसके द्वारा वह्नि का अनुमान कर लिया जाता है, वैसे ही नट आदि में वास्तविक रति आदि के न होने पर भी उनके अभिनय के कौशल से कृत्रिम विभावों के द्वारा रति आदि स्थायी भावों का अनुमान सामाजिक कर लेता है। यह अनुमिति अपने सौन्दर्य के बल से सामाजिकों द्वारा आस्वाद्यमान होकर चमत्कार को उत्पन्न करती हुई रसदशा को प्राप्त होती है।''

शंकुक का रससम्बन्धी यह अनुमितिवाद भी सदोष सिद्ध हुआ-

1. शंकुक ने नट में जिन विभावादि को रसानुमिति का हेतु रूप कहा, वे विभावादि उनके अनुसार ही कृत्रिम एवं कल्पित है। ऐसे कृत्रिम विभावादि से सामाजिक को वास्तविक रसानुभूति नहीं हो सकती।

2. रस का प्रत्यक्ष अनुभव ही चमत्कारजनक होता है, अनुमिति नहीं। चन्दन शब्द के अनुमान मात्र से सुगन्ध एवं शीतलता की प्रतीति नहीं हो सकती।

इस प्रकार शंकुक का रसानुमितिवाद भी परम्परा में स्वीकृत नहीं हुआ।

भट्टनायक का भुक्तिवाद- भरत के रससूत्र के मत वैभिन्य वाले दो पदों का भट्टनायक ने बिल्कुल भिन्न अर्थ किया। उन्होंने 'संयोगात्' पद का अर्थ 'भोग्यभोजकसंबंधात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किया।

स्वमत की स्थापना से पूर्व भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन किया। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में भट्टनायक के द्वारा किए गए अन्य मतों के खण्डन को सुष्ठुरूपेण प्रतिपादित किया है। तदनुसार रस की स्थिति को तटस्थ (पात्र या अभिनेता) में माने तो उसका सामाजिक के हृदय के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। क्योंकि तटस्थ होने के कारण वे सामाजिक के

लिए निष्प्रयोजन हैं। अतः रसस्थिति अनुकार्य पात्रादि में नहीं होती। रस को आत्मगत (सामाजिक गत) मानना भी उचित नहीं है क्योंकि शकुन्तला आदि दुष्यन्त के प्रति तो विभाव हो सकते हैं, किन्तु सामाजिक के प्रति विभाव नहीं बन सकते।

भट्टनायक ने यह भी प्रतिपादित किया कि रस न तो प्रतीत होता है (शंकुक के अनुमितिवाद का खण्डन), न उत्पन्न होता है (लोल्लट के उत्पत्तिवाद का खण्डन) और न ही अभिव्यक्त होता है। (अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का निराकरण)

भट्टनायक के मत में काव्य के शब्द अन्य शब्दों से भिन्न होते हैं। रस और विभावादि में भोज्य-भोजक सम्बन्ध होता है। रस भोज्य है और विभावादि भोजक। अपने सिद्धान्त की व्याख्या के लिए भट्टनायक ने अभिधा व्यापार के लिए भावकत्व तथा भोजकत्व- इन दो अन्य व्यापारों की कल्पना की। सामाजिक या दर्शक सर्वप्रथम शब्द की अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है; अर्थात् रामादि पात्र अपने विशिष्टत्व-ऐतिहासिक एवं व्यक्तिगत निर्देशों- को त्यागकर सामान्य प्राणी के रूप में साधारणीकृत हो जाते हैं। इसी साधारणीकरण के कारण ही सामाजिक की भावना का रामादि पात्रों की भावना के साथ तादात्म्य हो जाता है। तब भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक को रस की भुक्ति होती है। इस अवस्था में सामाजिक के चित्त में रजस् एवं तमस् गुणों का प्रभाव नष्ट होकर केवल सत्वगुण का अतिशय रहता है। सात्त्विक भाव के इस उद्रेक में ही रस की भुक्ति होती है। भट्टनायक की इस रसानुभूति (रस भुक्ति) के स्वरूप को अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में इस प्रकार स्पष्ट किया- 'रस के भावित हो जाने पर उसका भोग होता है जो चित्त की द्रुति, विस्तर एवं विकास रूप है, रजस और तमस् के वैचित्र्य से रहित सत्त्वमय है, निज चेतनस्वरूप है, परम आनन्द रूप है तथा परब्रह्म के आस्वाद के समान है। वह ही प्रधानभूत अंश है और सिद्धरूप है।''

भट्टनायक का सम्पूर्ण मत तो आचार्यों में स्वीकृत नहीं हुआ, किन्तु उसके दो बिन्दु सर्वस्वीकृत हुए। एक तो सामाजिक में रस की स्थिति और दूसरा साधारणीकरण व्यापार। किन्तु भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को अनावश्यक और अप्रामाणिक माना गया।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद- अभिनवगुप्त का रसविषयक व्यंजनावादी मत अपनी दार्शनिक और सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। अभिनवगुप्त ने भरत के रससूत्र के संयोगात् पद का अर्थ 'अभिव्यंग्य-अभिव्यंजकसम्बन्धात्' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया। अभिनवगुप्त

का मत संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है–

- सामाजिक के हृदय में वासना (धारावाहिनी इच्छा) के रूप में स्थायी भाव सदैव विद्यमान रहते हैं। सामाजिक का लौकिक अनुभव जितना व्यापक अथवा लघु होता है, उसी के आधार पर यह वासना भी विस्तृत अथवा संक्षिप्त होती है।
- काव्य को पढ़ने अथवा नाट्य को देखने पर शब्द की व्यंजना शक्ति के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् उनका स्वकीयत्व, परकीयत्व तथा उपेक्षणीयत्व नष्ट हो जाता है। यह साधारणीकरण केवल विभावादि का नहीं अपितु अनुभावों, व्यभिचारिभावों सभी का होता है और वे समस्त विभावादि अपने अपने विशिष्टांश के तिरोहित हो जाने से सामान्य मात्र रह जाते हैं।
- साधारणीकरण हो जाने पर प्रमाता (सामाजिक) की चित्तसीमा भी बन्धन हट जाने से अपरिसीम हो जाती है। इस स्थिति में विभावादि की भांति प्रमाता भी साधारणीकृत हो जाता है और स्वविशिष्टत्व के लोप के कारण वह 'सकलसहृदयसंवादभाक्' बन जाता है।
- इस स्थिति में सामाजिक को रत्यादि स्थायी भाव का रस रूप में आस्वादन होने लगता है। स्थायी भाव ही अभिव्यक्ति दशा में रस है। रस चर्वणा सामाजिक को ही होती है। जब तक विभावादिक स्थित रहते हैं, तभी तक रसानुभूति होती है। विभावादि व्यंजक है तथा रस सदैव व्यंग्य है। रस का रूप केवल आस्वाद्यमान है। यह रसानुभूति पानकरस के सदृश है। जिस प्रकार इलायची, केसर, मिर्च, मिश्री आदि के मिश्रण से निर्मित पानक में उन सभी वस्तुओं से विलक्षण एक अभिनव स्वाद होता है, उसी प्रकार काव्य रस का यह आस्वादन है।
- अलौकिक आनन्द रूप का रस क्षेत्र अपरिमित है। रस के अलौकिकत्व का यही रहस्य है कि लौकिक संसार में भय, क्रोध, शोक आदि भाव दुखात्मक होते हैं और मनुय उनकी ओर कभी भी स्वत: प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु वाक्य में भय, शोकादि के ही वर्णन रसानन्द की अनुभूति कराते हैं। इसीलिए करुण रस सम्पन्न काव्य या नाट्य की ओर रसिक की पुन: पुन: प्रवृत्ति होती है। यह काव्यरस विगलित वेद्यान्तर, ब्रह्मानन्द सहोदर, अखण्ड, स्वप्रकाश तथा चिन्मय कहा गया है–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। साहित्यदर्पण 3/2-3

अभिनवगुप्त के द्वारा प्रस्तुत किए गए रससम्बन्धी अभिव्यक्तिवाद को परवर्ती आचार्य परम्परा ने सहज ही स्वीकार किया। किन्तु दशरूपककार धनंजय एवं उस पर अवलोक टीका लिखने वाले धनिक ने व्यंजनावृत्ति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने रसनिष्पत्ति के लिए तात्पर्यावृत्ति को पर्याप्त माना। किन्तु धनजंय-धनिक का सिद्धान्त परवर्ती परम्परा में पुष्ट नहीं हो सका तथा अभिनवगुप्त का मत ही बहुसम्मत रहा।

भरत के रससूत्र में रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से कही गई थी- अत: इनका स्वरूप भी संक्षिप्त रूप में जानना उपयोगी है-

विभाव- आचार्य भरत के अनुसार जिनके द्वारा वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों का विभावन अर्थात् ज्ञान होता है, वे विभाव कहलाते हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार लोक में जो पदार्थ रति आदि को उद्‌बुद्ध करते हैं, उन्हें काव्य या नाट्य में विभाव कहा जाता है। (3/32)। विभाव दो प्रकार के होते हैं- आलम्बन एवं उद्दीपन।

आलम्बन विभाव- जिनके आलम्बन से रस का उदय होता है वे नायक, नायिका आदि पात्र आलम्बन विभाव कहलाते हैं।

उद्दीपन विभाव- जो रस को उद्दीप्त कर देते हैं वे उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं- (1) आलम्बन अर्थात् पात्रों के रूप, भूषण, वाणी आदि, (2) स्थान, समय, चन्द्र, चन्दन, कोकिलालाप, भ्रमरझंकार आदि।

अनुभाव- 'अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः'- विभावों के पश्चात् अनुभाव होते हैं। विभावों के द्वारा स्थायी भावों के उद्‌बुद्ध और उद्दीप्त होने पर हृदयगत भावनाएं अनेक विकारों के रूप में प्रगट होने लगती हैं। अनुभावों से अभिनय की ऐसी चेष्टाओं का संकेत मिलता है जिनसे आलम्बन-आश्रय के हृदयगत भावों को व्यक्त रूप मिलता है और जो सामाजिक को भाव-विशेष की प्रतीति कराती हैं। अनुभाव भावों के साथ ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के साथ तिरोहित हो जाते हैं। यथा क्रोध की दशा में भौंह चढ़ जाना, मुखाकृति विकृत हो जाना, आंखे लाल हो जाना अनुभाव हैं जो क्रोध भाव के लुप्त हो जाने पर तिरोहित हो जाते हैं। अनुभाव अनेकानेक हैं।

सात्त्विक भाव- सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण कुछ विकार (अनुभाव होने पर भी) सात्त्विक भाव कहलाते हैं। ये सात्त्विक भाव क्यों कहलाते हैं, इसका उत्तर देते हुए भरत ने स्पष्ट किया है कि समाहित मन से सत्त्व की उत्पत्ति होती है, अस्तु मन की एकाग्रता से ही सात्त्विक भाव निष्पन्न होते हैं- ये सात्त्विक भाव आठ हैं- स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, विवर्णता, अश्रु, मूर्च्छा।

व्याभिचारी अथवा संचारी भाव- व्यभिचारी भाव रस के प्रति उन्मुख होकर विशेष रूप से विचरणशील होते हैं और स्थायी भाव में इस प्रकार डूबते उतराते हैं जैसे सागर में लहरें। एक रस में अनेक व्यभिचारी भावों की तथा एक व्यभिचारी भाव की अनेक रसों में स्थिति हो सकती है। अधिकांश आचार्यों ने तैंतीस व्यभिचारी भाव परिगणित किए हैं- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा (लज्जा), चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, प्रबोध (जागरण), अमर्ष, अवहित्था (मनोभावों को छिपाना), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क। भोज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, भानुदत्त आदि आचार्यों ने कुछ और व्यभिचारी भाव भी गिनाए, किन्तु उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं तैंतीस व्यभिचारी भावों में किया जा सकता है।

स्थायी भाव- हृदय-स्थित जो भाव विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होता, वरन् अन्य भावों को आत्मवत् कर लेता है, वह स्थायी भाव होता है। मनुष्य के हृदय में चित्तवृत्तियों के रूप में चिरकाल तक रहने के कारण ये स्थायी भाव है। विभावादि से परिपुष्ट होकर अभिव्यक्त होता हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। आचार्य भरत ने आठ स्थायी भावों की गणना की- रति (श्रृंगार), हास (हास्य), शोक (करुण), क्रोध (रौद्र), उत्साह (वीर), भय (भयानक), जगुप्सा (वीभत्स) तथा विस्मय (अद्‌भुत)। तदनुसार ही उन स्थायी भाव से आठ रस निष्पन्न होते हैं।

रससंख्या- स्थायी भाव आठ ही क्यों माने गए- इसके उत्तर में अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया कि 'उत्पन्न प्राणी में स्थायी-भाव रूप आठ ही वासनाएं रहती हैं। वह इन्हें साथ लेकर ही उत्पन्न होता है, अस्तु, ये सहज वासनाएं है जो प्रत्येक प्राणी में होता हैं। यह अवश्य है कि किसी किसी व्यक्ति में इनमे से किसी किसी वासना का न्यूनाधिक्य हो सकता है। इस प्रकार ये आठों वासनाएं व्यक्ति के अन्दर स्वाभाविक रूप से सदैव विद्यमान रहती हैं। सदा विद्यमान रहने के कारण ही इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। इसके विपरीत व्यभिचारी भाव-रूप वासनाएं वे हैं, जो

व्यक्ति के अन्दर सदैव विद्यमान नहीं रहती, वरन् योग्य विभावादि के संयोग होने पर ही उत्पन्न होती है।

पहले कहा जा चुका है कि आचार्य भरत ने आठ स्थायी भावों की गणना की थी। इनकी यह संख्या नाट्यदृष्टि से थी। परवर्ती युग में जब नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र ये दो भिन्न धाराएं प्रवर्तित हुई, तो काव्यशास्त्र में एक नवें--- शान्तरस को माना गया तथा आचार्य मम्मट ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायी भाव घोषित किया। आचार्य विश्वनाथ ने एक और वत्सल रस भी स्वीकार किया और उसका स्थायी भाव वत्सलता को माना। आचार्य रूपगोस्वामी ने भगवत् विषयक रति स्थायी भाव से भक्ति रस का प्रतिपादन किया, और इस प्रकार रसों की संख्या ग्यारह हो गई। किन्तु अन्य काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने भरत सम्मत आठ रसों के साथ शान्त रस को भी स्वीकार करके नौ ही रस माने तथा वत्सल और भक्ति को रस न मानकर भाव मात्र ही माना। आचार्य हेमचन्द्र ने स्नेह, भक्ति एवं वात्सल्य को रति का ही एक भेद कहा।

रससंख्या के संबंध में भोज का मत सबसे भिन्न है। उन्होंने श्रृंगारादि आठ रसों और उनके आठ स्थायी भावों का कथन किया और पुनः चार और रसों का भी प्रतिपादन किया- प्रेयान्, शान्त, उदात्त और उद्धत, तथा इस प्रकार रसों की संख्या बारह तक पहुंचा दी।

किन्तु इतने भिन्न मत मतान्तर होने पर भी रस की संख्या अधिकांशतः आठ या नौ ही स्वीकृत हुई।

विभिन्न रसों का स्वरूप- साहित्यशास्त्री कतिपय आचार्यों ने रस का स्वरूप निर्देशित न करके उनके उदाहरण मात्र दिए हैं, किन्तु कुछ अन्य आचार्यों ने उनके स्वरूप की भी व्याख्या की है-

श्रृंगाररस- रति रूप स्थायी भाव ही श्रृंगार रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। नायक तथा नायिका आदि इसके आलम्बन विभाव है; उपवन, पुष्प सुगन्धि, भ्रमरगुंजार, चन्द्र, ज्योत्स्ना आदि इसके उद्दीपन विभाव है। कटाक्ष, भ्रूविक्षेप, रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं तथा व्रीडा, आवेग, औत्सुक्य, स्मृति, आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं। दशरूपककार धनंजय के अनुसार आठों स्थायी भाव, आठों सात्त्विक भाव तथा तैंतीस व्यभिचारी भाव यदि युक्तिपूर्वक उपनिबन्धित हों तो श्रृंगार रस को पुष्ट करते हैं। केवल आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा का आलम्बन श्रृंगार से भिन्न होना चाहिए। (दशरूपक 4/49)

श्रृंगार रस के दो भेद होते हैं- संयोग एवं विप्रलम्भ। दोनों में ही आलम्बन तो

नायिक नायिका होते हैं किन्तु उनके अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव भिन्न हो जाते हैं। शृंगार रस का वर्ण श्याम तथा इसके देवता विष्णु कहे गए हैं।

हास्य रस- हास रूप स्थायी भाव अपने अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त होता हुआ हास्यरस रूप में निष्पन्न होता है। इसके आलम्बन विकृत आकार,विकृत वेष तथा विकृत वाणी हैं, जिन्हें देखकर लोग हंस पड़ें। विकृत चेष्टाएं ही इसके उद्दीपन विभाव हैं। आंखों का सिकुड़ना, मुस्कराहट आदि इसके अनुभाव हैं तथा आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

हास्य रस छः प्रकार से अभिव्यक्त होता है:-

स्मित- नेत्रों का विकसित हो जाना तथा अधरों का फड़कना;

हसित- मुस्कराते हुए दांतों का भी तनिक दिख जाना;

विहसित- मधुर स्वर में हंसना;

अवहसित- हंसते हुए शिर का भी हिलने लगना;

अपहसित- हंसते हंसते आंखों में आंसू आ जाना;

अतिहसित- हंसते हंसते हाथ पैर चलाना, लुढ़क जाना आदि।

उत्तम कोटिक पात्रों में स्मित और हसित, मध्यम कोटि के पात्रों में विहसित और अवहसित तथा नीच कोटि के पात्रों में अपहसित तथा अतिहसित हास्य भेद पाए जाते हैं। **हास्य रस का वर्ण श्वेत तथा इसके देवता प्रमथ कहे गए हैं।**

करुण रस- शोक रूप स्थायी भाव अपने अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होता हुआ करुण रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। इष्ट का नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से शोच्यजन इसके आलम्बन हैं; प्रिय का गुणकथन तथा श्रवण इसके उद्दीपन विभाव हैं। दैवनिन्दा, नि:श्वास, रुदन, प्रलाप आदि करुण रस के अनुभाव हैं तथा निर्वेद, मोह, ग्लानि, स्मृति, विषाद, जडता आदि व्यभिचारी भाव हैं। **करुणरस कपोतवर्णी कहा गया है तथा यम इसके देवता हैं।**

रौद्र रस- क्रोध स्थायीभाव रौद्र रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। शत्रु आदि इसके आलम्बन विभाव हैं; शत्रु कृत अपकार चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। रौद्र रस के अनुभाव हैं भौंहे चढ़ाना, होंठ काटना, डांटना- धमकाना, डींग मारना, शस्त्र चमकाना आदि; तथा उग्रता,आवेग, रोमांच, कम्प अमर्ष, असूया, मोह आदि इस रस के व्यभिचारी भाव हैं। **रौद्र रस का वर्ण लाल तथा इसके देवता यम कहे गए हैं।**

वीररस- उत्साह स्थायी भाव अपने अनुभावों और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर वीर रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। विजेतव्य शत्रु इसका आलम्बन विभाव है तथा विजेतव्य शत्रु की चेष्टाएं आदि उद्दीपन विभाव हैं। सहायक तथा

युद्धादि सामग्री का अन्वेषण इसके अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमांच आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। **वीररस का वर्ण गौर तथा इसका देवता इन्द्र कहा गया है।**

वीररस के चार प्रकार कहे गए हैं- दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर। इसके उदाहरण क्रमशः परशुराम, युधिष्ठिर, राम तथा जीमूतवाहन प्रतिपादित किए गए हैं।

भयानक रस- भय नामक स्थायी भाव का परिपोष भयानक रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। किसी भी जीव का भयोत्पादक शरीर अथवा स्वर इसका आलम्बन होता है। तथा उसका विकृत स्वर और चेष्टाएं उद्दीपन विभाव होते हैं। शरीर में कम्पन, पसीना, मुख की विवर्णता, चिन्ता आदि इसके अनुभाव हैं। इसके व्यभिचारी भाव जुगुप्सा, आवेग, मोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, मृत्यु आदि है। **भयानक रस का वर्ण कृष्ण एवं देवता काल कहे गए हैं।**

वीभत्स रस- जुगुप्सा नामक स्थायी भाव अपने अनुभावों और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर वीभत्स रस में अभिव्यक्त होता है। कीड़े, सांप, मांस, वमन आदि इसके आलम्बन विभाव हैं तथा दुर्गन्ध आना, कीड़े पड़ जाना आदि उद्दीपन विभाव हैं। थूकना, मुंह मोड़ लेना, आंखें सिकोड़ना आदि इसके अनुभाव हैं एवं आवेग, मोह, अपस्मार, व्याधि, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। **वीभत्स रस का वर्ण नील तथा इसके देवता महाकाल कहे गए हैं।**

धनंजय ने वीभत्स रस तीन प्रकार का कहा है (दशरूपक 4/73)। तदनुसार-

(1) रक्त, आंतें, हड्डी, मज्जा तथा मांस आदि विभावों से होने वाला **क्षोभण वीभत्स होता है।**

(2) कीड़े, दुर्गन्ध तथा वमन आदि विभावों से होने वाला **उद्वेगी वीभत्स** होता है।

(3) जघन, स्तन आदि रमणी- अवयवों के प्रति वैराग्य के कारण घृणा से होने वाला **शुद्ध वीभत्स** होता है।

अद्‌भुत रस- विस्मय स्थायी भाव ही रसदशा में अद्‌भुत रस कहलाता है। अलौकिक पदार्थ, देवता आदि इसके आलम्बन विभाव हैं तथा अलौकिक पदार्थों तथा देवता आदि के दर्शन, महिमा श्रवण आदि उसके उद्दीपन विभाव हैं। साधुवाद देना, आंसू, वेपथु, स्वेद, रोमांच, गद्‌गद् स्वर, सम्भ्रम, नेत्र-विकास आदि इसके अनुभाव हैं तथा वितर्क, आवेग, हर्ष, धृति आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। **अद्‌भुत रस का वर्ण पीत तथा इसके देवता गन्धर्व है।**

शान्त रस- आचार्य मम्मट ने शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' बताया था किन्तु परवर्ती विश्वनाथ आदि आचार्यों ने शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' कहा।

परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होना अथवा संसार की निस्सारता का बोध होना शान्त रस के आलम्बन विभाव हैं। तीर्थ, पवित्र आश्रम स्थल, महापुरुषों का संग, भगवान् के लीला क्षेत्र आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, जीवदया आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। **शान्त रस का वर्ण कुन्देन्दुधवल तथा इसके देवता श्री नारायण हैं।**

अलंकार सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरा कालक्रम में स्थान अलंकार सम्प्रदाय है। भरत के पश्चात् होने वाले दूसरे आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' से अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। आचार्य भरत ने रस को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित किया था। भरत के पर्याप्त समय के पश्चाद् भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने काव्य में अलंकार को मुख्यता प्रदान की और रस को अलंकार का उपकारक तत्त्व माना। इस प्रकार भरत से परवर्ती कतिपय आचार्यों ने काव्य में रसतत्त्व की गौणता अथवा अंगरूपता प्रतिपादित की। यह प्रतिपादन इतना सुपुष्ट था कि परवर्ती समय में ध्वनि आदि सम्प्रदायों के आचार्यों ने भले ही अलंकार को काव्य का आत्मभूत तत्त्व स्वीकार नहीं किया, तथापि अपने अपने ग्रन्थों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन अवश्य किया। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करने पर अलंकारों का महत्त्व किंचित कम अवश्य हुआ। किन्तु फिर भी काव्य में अलंकारों की उपस्थिति को लगभग सभी ने माना था। आचार्य मम्मट ने प्रथम बार काव्य के लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कह कर अलंकारों का महत्व पर्याप्त कम करने का प्रयास किया। किन्तु परवर्ती आचार्यों में 'चन्द्रालोक' के रचयिता इससे इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने कहा-

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।। चन्द्रालोक 1/8.

अर्थात्- जो अलंकार से रहित शब्द-अर्थ को काव्य अंगीकार करता है, वह अग्नि को भी उष्णतारहित क्यों नही मान लेता?

अलम्पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय जोड़ कर अलंकार पद निष्पन्न होता है। इसकी दो व्युत्पत्ति की जा सकती हैं- (1) **अलंकरोति इति अलंकार**- जो सुशोभित कर दे, अथवा सौन्दर्य में वृद्धि कर दे, वह अलंकार है। (2) **अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः**- जिसके द्वारा किसी वस्तु को सुशोभित कर दिया जाए, वह अलंकार है। इस व्युत्पत्ति से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार शब्द का सामान्य अर्थ है- आभूषण, श्रृंगार साधन, सौन्दर्यविशेषक तत्व। जिस प्रकार शरीर

के स्वाभाविक सौन्दर्य को अधिक निखार देने वाले हार, कुण्डल आदि अलंकार कहलाते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ को अधिक आकर्षक बना देने वाले काव्य तत्त्व भी अलंकार कहलाते हैं। सामान्य जीवन में वाणी का प्रयोग अत्यन्त सामान्य रूप में ही चलता रहता है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में वाणी का अंलकृत रूप ही मान्य एवं सुशोभित होता है। अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य में सौन्दर्य, रमणीयता तथा अतिशय का आधान करने वाले सभी धर्मों को अलंकार की कोटि में परिगणित कर दिया। दण्डी ने काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहा- "**काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान्, प्रचक्षते**" (काव्यादर्श 2/1)। वामन ने काव्यक्षेत्र में सौन्दर्यमात्र को अलंकार नाम देते हुए अलंकारों के कारण ही काव्य को ग्राह्य स्वीकार किया- "**काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः**" (काव्यालंकारसूत्र 1/1/1-2)।

ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेदादि के मन्त्रों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, यमक आदि अलंकारों के प्रयोग हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में अलंकार शब्द का प्रयोग सौन्दर्याधायक तत्व के रूप में किया गया था; किन्तु काव्यशास्त्रीय प्रयोग की दृष्टि से सर्वप्रथम यास्क के निरुक्त में अलंकार शब्द प्राप्त होता है। यास्क ने उपमा पद की विस्तृत व्याख्या करते हुए कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा आदि उपमागत अनेक भेदों को स्पष्ट किया- "**उपमा अतत् तत्सदृशम्**" (निरुक्त 3/3/14; 3/4/11---18.)। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों में उपमान, उपमा, उपमित, सादृश्य आदि पदों के ग्रहण से यह स्पष्ट होता है कि यास्क और पाणिनि के मध्यवर्ती काल में अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन होने लगा था। कात्यायन ने अपने एक वार्तिक में उपमावाचक 'इव' शब्द के साथ नित्य समास करने का विधान किया था- "**इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च**" (अष्टाध्यायी 2/4/71 पर वार्तिक)। पतंजलि के महाभाष्य में पाणिनि के सूत्रों में आए हुए उपमा आदि शब्दों का निर्वचन किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रारम्भ से ही काव्यगत अलंकारों का विचार अवश्य होता रहा, किन्तु आचार्य के रूप में भरत ने ही सर्वप्रथम, भले ही सूक्ष्मतया, अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन किया। या यों भी कहा जा सकता है कि अद्यावधि नाट्यशास्त्र ही वह उपलब्ध ग्रन्थ है, जिसमें काव्यालंकारों का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। आचार्य भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक- इन चार ही अलंकारों का कथन किया था-

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः।।

(नाट्यशास्त्र 17/43)

आचार्य भरत ने 36 नाट्य लक्षणों का भी विधान किया था। परवर्ती आचार्यों ने उन नाट्यलक्षणों से भी संशय, दृष्टान्त, अर्थापत्ति, निदर्शन आदि अनेक काव्य-लक्षणों को काव्यगत अलंकारों में परिगणित कर लिया। आचार्य भरत से प्रारंभ हुआ यह संक्षिप्त अलंकार-विवेचन उत्तरोत्तर विकसित और विस्तृत ही होता गया तथा अलंकारों की संख्या 125 तक पहुंच गई।

आचार्य एवं विकास क्रम- जैसा कहा जा चुका है, आचार्य भरत ने सर्वप्रथम अलंकार तत्त्व की समीक्षा की थी और चार अलंकारों का नामत: परिगणन भी किया था। किन्तु अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य के रूप में भामह (7वीं शती ईस्वी पूर्वार्ध) समादृत हैं जिन्होंने अलंकार को काव्य के आत्मतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन्होंने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में 38 अलंकारों का विवेचन किया है।

भामह के अनुसार काव्य का सबसे प्रमुख सौन्दर्याधायक तत्त्व अलंकार ही है। अलंकार के बिना काव्य की शोभा नहीं होती। भामह ने रस और भाव की स्वतन्त्र सत्ता न मानकर उन्हें अलंकारों में ही समाविष्ट कर दिया तथा चमत्कृति को काव्य का सर्वस्व कहा। भामह के अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति ही अलंकार है- "**वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः**" (काव्यालंकार 1/36)। यदि वक्रोक्ति नहीं है तो अलंकार भी नहीं है। भामह के मतानुसार वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति अभिन्न हैं। यह 'अतिशयोक्ति लोकोत्तर होने से अत्यन्त रमणीय होती है तथा इससे अलंकार निष्पन्न होता है।'

अलंकार सम्प्रदाय के दूसरे मूर्धन्य **आचार्य दण्डी** (7वीं शती ईस्वी उत्तरार्ध) ने काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार की संज्ञा दी। दण्डी के अनुसार ये धर्म इतने अधिक हैं कि उन्हें सम्पूर्ण रूप से कोई नही कह सकता- "**ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।**" (काव्यादर्श 2/1)। रस आदि भी काव्य में शोभा का सम्पादन करते हैं, ऐसा मानते हुए दण्डी ने रस आदि का ग्रहण भी रसवद् अलंकारों के अन्तर्गत कर लिया। दण्डी ने काव्यगत सन्धि, सन्ध्यंग, वृत्ति, वृत्यंग आदि को भी अलंकार ही माना (काव्यादर्श- 2/267) दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना तथा अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में 37 अलंकारों का प्रतिपादन किया।

आचार्य वामन (8वीं शती उत्तरार्ध एवं नवी शती प्रथम चरण) यद्यपि रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक रहे, तथापि अलंकार क्षेत्र में भी वे महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य को अलंकार नाम देते हुए आचार्य वामन ने अलंकार के कारण ही काव्य

को ग्राह्य माना। वामन के अनुसार काव्य की शोभा गुणों से होती है, किन्तु उस शोभा का अतिशय तो अलंकार ही करते हैं- **''काव्याशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः''** (काव्यालंकार सूत्र 3/1/1,2)। वामन ने अपने ग्रन्थ में 31 अलंकारों का सविस्तार सोदाहरण विवेचन किया।

आचार्य उद्भट (800 ईस्वी) ने भी काव्य में अलंकारों की प्रधानता का प्रतिपादन किया। केवल 79 कारिकाओं के अपने छोटे से ग्रन्थ 'अलंकारसंग्रह' में उद्भट ने कुल 41 अलंकारों का विवेचन किया। उद्भट ने अलंकारों का जो क्रम रखा और जिस प्रकार विवेचन किया, उस पर भामह का बहुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कहीं कहीं अलंकार विवेचन में भामह के विचारों से तनिक भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है।

आचार्य रुद्रट (850 ईस्वी) ध्वनिवादी एवं अलंकारवादी आचार्यों की बीच एक कड़ी की भांति हैं। रुद्रट ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया तथा अलंकारों को कुछ निश्चित श्रेणियों में विभक्त किया। रुद्रट ने काव्य में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन तो किया, किन्तु काव्य सौन्दर्य के लिए अलंकारों को ही अधिक महत्व दिया (काव्यालंकार 12/2)। रुद्रट का 'काव्यालंकार' ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है। इनमें कुल 714 आर्याएं हैं तथा ग्रन्थ 16 अध्यायों में विभक्त है। रुद्रट ने कुल 62 अलंकारों का वर्णन किया जिनमें 57 अर्थालंकार है। वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष- इन चार के आधार पर रुद्रट ने समस्त अर्थालंकारों का चार भिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया।

रुद्रट के ही लगभग समकालीन **आनन्दवर्धन** ने ध्वनि को काव्य की आमा घोषित किया और काव्य में अलंकारों की प्रधानता पर प्रबल प्रहार किया। आनन्दवर्धन ने कहा कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग अंगरूप में होना चाहिए, अंगी रूप में नहीं। आनन्दवर्धन की मान्यता को और विकसित करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्य में अलंकारो को गुणों के समकक्ष भी स्थान नहीं दिया। मम्मट के अनुसार काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य नहीं है, वे तो काव्य के अस्थिर धर्म है। किन्तु ऐसा मानने वाले मम्मट ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में 68 अलंकारों का सोदाहरण वर्णन किया। अलंकारों को काव्य मे गौण बना देने वाले रसवादी अथवा ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों का पर्याप्त विस्तृत विवेचन किया। भोज ने 72 अलंकार परिगणित किए। आचार्य रुय्यक के समय तक 118 अलंकारों की उद्भावना हो चुकी थी। उन्होंने विश्लेषणपूर्वक उनमें से 75 को स्वीकार किया और 7 अलंकारों की स्वयं उद्भावना करके कुल 82

अलंकारो का विवेचन किया। आचार्य रुय्यक के पश्चात् जयदेव, विद्यानाथ, विश्वेश्वर आदि सभी आचार्यों ने रुय्यक की परिपाटी पर ही अलंकारों की समीक्षा की। अलंकार सम्प्रदाय के उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित (16वीं शती का अन्त एवं 17वीं शती का पूर्वार्ध) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके 'चित्रमीमांसा' (अपूर्ण) तथा 'कुवलयानन्द' ग्रन्थों में कुल 125 अलंकारों का विवेचन हुआ है। अप्पय दीक्षित ने उपमा को सभी अलंकारों का मूल माना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार सम्प्रदाय अपनी उद्‌भावना के समय से लेकर निरन्तर अक्षुण्ण रूप से विवेचित रहा।

रीति सम्प्रदाय

रीति काव्यशास्त्र का एक महनीय सिद्धान्त है। आाचर्य वामन (800 ईस्वी के लगभग) ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करके इस सम्प्रदाय की स्थापना की और काव्य में अलंकारों की प्रधानता को स्वीकार नहीं किया। आचार्य वामन का एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है- 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति'। पांच अधिकरणों के बारह अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। वामन ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया। ये पहले आचार्य थे जिन्होंने रीति की स्पष्ट व्याख्या करके उसको काव्य की आत्मा माना।

वामन से पूर्व आचार्य भामह एवं दण्डी ने भी रीति का प्रतिपादन 'मार्ग' नाम से किया था, किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में रीति की स्थापना आचार्य वामन ने ही की- **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** (1/2/6)। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ से निर्मित अवश्य है तथा उसका सौन्दर्य काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है; किन्तु जब तक पदों की संघटना में औचित्य नहीं होगा, तब तक काव्य में काव्यत्व नहीं हो सकेगा। अतएव आचार्य वामन के अनुसार 'पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है और विशेष का अर्थ है गुणों से युक्त होना। ये गुण काव्य की शोभा के सम्पादक नित्य धर्म हैं-'

विशिष्टा पदसंघटना रीतिः।। काव्यलंकार सूत्र वृत्ति 1/2/7
विशेषो गुणात्मा।। काव्यलंकार सूत्रवृत्ति 1/2/8.
काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।। वही 3/1/1

इस प्रकार आचार्य वामन ने काव्य की आत्मा के रूपमें रीति को स्थापित किया और गुण को रीति की आत्मा बताया। रीति और गुण में इस प्रकार घनिष्ठ संबंध स्थापित कर देने के कारण **रीति सम्प्रदाय को कदाचित् गुण सम्प्रदाय** भी कह दिया जाता है।

विकासक्रम-काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में रीति अथवा मार्ग शब्द का प्रयोग मूलत: तत्तत् प्रदेश की भौगोलिक विशेषताओं के लिए प्रयुक्त हुआ था। 'प्राचीन आचार्यों का कथन था कि विभिन्न प्रदेशों में रहने वाले कवि अपने प्रदेश की भाषागत शैली में काव्य रचना करते थे; अतएव ये शैलियां या मार्ग तत्तत् प्रदेशों के नाम से प्रसिद्ध हो गए। किन्तु उत्तरवर्ती युग में ये शैलियां किसी विशेष देश से सम्बन्धित न रहकर कवि की निजी प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हो गई। '

सर्वप्रथम **आचार्य भरत** ने विभिन्न प्रदेशों या भूभागों से सम्बद्ध पदसंघटना के लिए प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया था। भरत ने आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली और औड्रमागधी- इन चार प्रवृत्तियों का कथन किया था-

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दक्षिणात्या च पांचाली चौड्रमागधी।। नाट्यशास्त्र

भरत द्वारा कहे गए चार प्रवृत्तियों के नामों से स्पष्ट होता है कि भरत के समय तक प्रादेशिक भिन्नता के आधार पर भाषा प्रयोग की विशेषता लोक में बद्धमूल हो चुकी थी। किन्तु सर्वप्रथम **आचार्य भामह** ने प्रवृत्ति किंवा रीति का विशद विवेचन मार्ग नाम से किया। भामह के समय तक मार्ग का सम्बन्ध देशविशेष से नहीं रह गया था। भामह के समय तक साहित्य रचना के दो मार्ग स्थापित हो चुके थे- वैदर्भ तथा गौडीय। दोनों मार्गों की अपनी अपनी विशेषताएं थी, फिर भी दोनों मार्गों में वैदर्भ मार्ग अधिक प्रशंसित था।

आचार्य भामह के पश्चात **आचार्य दण्डी** ने भी 'मार्ग' नाम ही ग्रहण किया, किन्तु भामह की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। दण्डी का कहना था कि 'वाणी (काव्यरचना) के अनेक मार्ग हैं,जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद है।' (काव्यादर्श 1/40)। 'मुख्य भेद दो- वैदर्भ और गौड हैं। प्रत्येक कवि का मार्ग इन्हीं दो के अन्तर्गत होकर भी परस्पर भिन्न भिन्न होता है। उन अनन्त भेदों का वर्णन कर सकना असम्भव है। (काव्यादर्श 1/10)। आचार्य भरत ने दस काव्यगुणों का निरूपण किया था; अचार्य दण्डी ने इन दस काव्यगुणों का सम्बन्ध भी मार्ग से स्थापित कर दिया। (काव्यादर्श 1/41-42)।

दण्डी के पश्चात् **आचार्य वामन** हुए जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कह कर रीति सम्प्रदाय स्थापित किया, यह कहा जा चुका है। वामन ने रीति और गुणों का नित्य सम्बन्ध स्थापित करके रस आदि का भी इनमें समावेश कर लिया। वामन से पूर्व तक गुणों की संख्या दस थी। वामन ने गुणों के नाम तो वही रखे- श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति तथा समाधि-

किन्तु दस शब्दगुण और दस अर्थगुण मानकर गुणों की संख्या बीस कर दी। साथ ही वामन ने वैदर्भ तथा गौडीया मार्ग के अतिरिक्त पांचाल नामक एक और रीति प्रतिपादित करके रीतियों की संख्या तीन कर दी। गुणों के भेद और गुणों की संख्या कम या अधिक होने से रीतियों में भिन्नता हो जाती है। आचार्य वामन ने रीति को देशविशेष मात्र से न जोड़कर उसे व्यवहार रूप में प्रतिपादित किया (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/2/10 तथा उस पर वृत्ति)।

रीतिसम्प्रदाय में **आचार्य रुद्रट** एक महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख नाम है। आचार्य रुद्रट ने रीति को काव्यव्यवहार की परम्परा में सर्वथा संयोजित कर के उसे भौगोलिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त कर दिया। रुद्रट ने लाटी नामक एक और रीति की उद्भावना करके वामन कथित तीन रीतियों की संख्या चार कर दी। इन चारों रीतियों का विभाजन आचार्य रुद्रट ने पद संघटना में समास प्रयोग के आधार पर किया (काव्यालंकार 1/6; 2/4-5)। तदनुसार-

- जिस काव्यरचना में समास न हो, वह **वैदर्भी रीति** से युक्त है।
- दो या तीन समासों से युक्त रचना **पांचाली रीति** है।
- जिस काव्यरचना में पांच से सात समास हो, वह **लाटी रीति** युक्त है।
- समास बहुल रचना **गौड़ी रीति** है।

आचार्य रुद्रट की एक और विशेषता यह रही कि उन्होंने रस के औचित्य के अनुकूल ही रीति के संयोजन की व्यवस्था दी। (काव्यालंकार- 14/37; 15/20)। तदनुसार मधुर और सुकुमार रसों- श्रृंगार, प्रेयस्, भयानक और अद्भुत रसों के लिए काव्य रचना में वैदर्भी और पांचाली रीति का प्रयोग करना चाहिए। कठोर और ओजयुक्त रसों- रौद्र आदि का निवेशन लाटी तथा गौडी रीति में करना चाहिए।

राजशेखर (10वीं शती प्रारम्भ) ने रीति का विशद विवेचन किया तथा वचन-विन्यास-क्रम को रीति कहा- **'वचनविन्यासक्रमो रीतिः'**। राजशेखर ने आलंकारिक रूप से रीतियों का भौगोलिक विवेचन किया। राजशेखर के अनुसार काव्यपुरुष ने भारत की चारों दिशाओं में भ्रमण किया। ''काव्यपुरुष के द्वारा समासयुक्त, अनुप्रासयुक्त तथा योगवृत्तिपरम्परागर्भ वचन का उच्चारण करने पर गौड़ी रीति; अल्पसमासयुक्त, तथा उपचारगर्भवचन का उच्चारण होने पर पांचाली रीति, एवं समास रहित, स्थानानुप्रासयुक्त तथा योगवृत्तिगर्भवचन का उच्चारण करने पर वैदर्भी रीति बनी। इससे सिद्ध है कि राजशेखर गौडी रीति में दीर्घ समास, पांचाली में अल्प समास और वैदर्भी रीति में समासरहित पदविन्यास मानते थे। 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने यद्यपि तीन ही रीतियों की चर्चा की है तथापि

'कर्पूरमंजरी' में उन्होंने मागधी रीति का भी प्रतिपादन किया। इन सभी रीतियों में उन्होंने वैदर्भी रीति के प्रति अधिक आदर प्रकट किया है। राजशेखर काव्य में रीतियों को रस का परिस्रावक अनिवार्य तत्त्व मानते थे।''

भोज ने रीतियों की विवेचना में राजशेखर का अनुकरण किया। अपने महनीय ग्रन्थ 'श्रृंगारप्रकाश' में रुद्रट कथित चार रीतियों- वैदर्भी, गौडी, पांचाली, लाटी- का प्रतिपादन किया था, किन्तु अपने दूसरे ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में आवन्तिका तथा मागधी नामक दो और रीतियों का कथन करके भोज ने रीतियों की संख्या छह कर दी-

वैदर्भी साऽथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिः विनिगद्यते।।

सरस्वती कण्ठाभरण 2/51

भोज ने रीति का आधार गुण और समास दोनों को बनाया।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक **आचार्य कुन्तक** ने रीति को पुनः मार्ग नाम से ही अभिहित किया तथा नवीन पद्धति से उनका विवेचन किया (वक्रोक्तिजीवित-प्रथम उन्मेष 24 से 52 कारिका)। तदनुसार भौगोलिक प्रदेश से मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं होता; कवि का स्वभाव एवं आन्तरिक गुण ही मार्ग के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य का स्वभाव अनन्त है, अतएव मार्ग भी अनन्त हो सकते हैं। किन्तु इनको तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है-

सुकुमार मार्ग- इसके चार विशिष्ट गुण हैं- माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा अभिजात्य। इस मार्ग में कोमल तथा असमस्त पदों का विन्यास होता है, यथा कालिदास की रचनाएं।

विचित्र माग- सुकुमार मार्ग के ही चार विशिष्ट गुण इसमें अतिशययुक्त हो जाते हैं तथा ''प्रयत्नसाध्य बाह्य शोभा के उत्पादक हैं।'' इस मार्ग में अलंकारों का प्राधान्य तथा वाह्याडम्बर होता है यथा भारवि, माघ, बाण तथा भवभूति की रचनाएं।

मध्यम मार्ग- इसमें उपर्युक्त दोनों मार्गों का सम्मिश्रण होता है यथा मातृगुप्त आदि की रचनाएं।

कुन्तक का यह विवेचन परवर्ती आचार्यों में अधिक मान्य नहीं हुआ तथा वैदर्भी आदि रीति नाम ही प्रचलित हुए।

आचार्य शारदातनय ने देशविशेष के साथ रीति का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए वचन-विन्यास को रीति कहा और प्राचीन वैदर्भी आदि चार रीतियों के साथ सौराष्ट्री, द्राविडी रीति का भी कथन किया। (भावप्रकाशन पृ. 11)।

आचार्य शिंगभूपाल ने अपने ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' में पद समास के आधार पर तीन रीतियों का निर्धारण किया- कोमला, कठिना तथा मिश्रा। साथ ही मिश्रा रीति के अन्तर्गत भौगोलिक स्थिति के अनुसार आन्ध्री, लाटी तथा सौराष्ट्री की भी गणना की-

रीतिः स्याद् पदविन्यासभंगी सा तु त्रिधा मता।
कोमला कठिना मिश्रा चेति....।। रसार्णवसुधाकर 1/228.
आन्ध्री लाटी च सौराष्ट्रीत्यादयो मिश्ररीतयः।।

रसार्णव सुधाकर 1/241

ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रीति पर विचार अवश्य किया। इस विचारसरणि के अनुसार पदसंघटना वैशिष्ट्य ही रीति है। माधुर्य आदि गुणों के आश्रय से रीति रस को अभिव्यक्त करती है। किन्तु यह रीति काव्य का बाह्य तत्व ही है। उनके मत में काव्य में रीति का स्थान शरीर में ''अवयवसंस्थानविशेषवत्'' है। शरीर में आंख, कान, नाक आदि अवयवों की रचना शरीर के लिए उपयोगी भी है और शरीर शोभा की जनक भी है, फिर भी अवयव संस्थान को आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य में रीति का महत्व भी है और शोभाजनकत्व भी; किन्तु रीति को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता।

रीति सम्प्रदाय के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में बहुत प्रारंभ से ही रीतितत्व पर विचार किया गया था, जिसकी चरम परिणति आचार्य वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सिद्धान्त में हुई। किन्तु ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना होजाने पर काव्य में रीति का स्थान अत्यन्त गौण रह गया।

विभिन्न रीतियां- पिछले सम्पूर्ण विवेचन में देखा जा चुका है कि काव्यगत पदसंघटना के लिए पहले प्रवृत्ति पद का प्रयोग हुआ जो भौगोलिक प्रदेशों से सम्बद्ध थी और जिनकी संख्या चार कही गई। फिर वही प्रवृत्ति मार्ग नाम से अभिहित हुई और संख्या दो रही। तनिक और परवर्ती युग में आचार्य वामन ने मार्ग को रीति नाम दिया और संख्या में तीन रीतियां विवेचित की। क्रमशः रीति की संख्या छह तक पहुंच गई, किन्तु वस्तुतः चार रीतियां ही अधिकांशतः स्वीकृत हुई। सभी आचार्यो ने रीतियों का लक्षण और स्वरूप भी दिया। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में रीतियों का स्वरूप निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया-

वैदर्भी रीति-माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते।। साहित्यदर्पण 9/3

''जिसमें माधुर्यगुण के व्यंजक वर्ण हो, जो समास रहित हो अथवा अत्यन्त

अल्प समास से युक्त हो, ऐसी ललित रचना वैदर्भी रीति कहलाती है।

वैदर्भी रीति का स्वरूप सुकुमार होता है। यह समासरहित अथवा एकपद समास वाली होती है। श्लेषादि दसों गुण वैदर्भी रीति में पाए जाते हैं। इसमें अल्पप्राण अक्षर होने से उनका उच्चारण सरलता से हो जाता है।

गौडी रीति- ओजः प्रकाशकैर्वर्णैबन्ध आडम्बरः पुनः
समासबहुला गौडी च।। साहित्यदर्पण 9/4

जिसमे ओजगुण व्यंजक वर्ण हों, बाह्याडम्बर हो तथा जिसमें बहुत समास हो, वह गौडी रीति कहलाती है।

गौडी रीति का स्वरूप उद्धत होता है। इसमें महाप्राण अक्षरों का बाहुल्य होता है तथा वाक्य यतिरहित लम्बे लम्बे होते हैं। गौडी रीति समासबहुल होती है।

पांचाली रीति- ..... वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपंचषट्पदो बन्धः पांचालिका मता।।

साहित्यदर्पण 9/5

माधुर्य तथा ओज गुणों के सम्मिश्रित वर्णों वाली तथा पांच छह पदों तक के समास वाली रचना पांचाली रीति कहलाती है।

औज्ज्वल्य और कान्ति गुणों से सम्बन्धित पांच छह पदों तक के समास वाली मधुर और सुकुमार रचना पांचाली रीति कहलाती है।

लाटी रीति- लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपांचाल्योरन्तरा स्थिता।।

साहित्यदर्पण 9/6

वैदर्भी और पांचाली रीति के सम्मिश्रण से युक्त काव्यरचना लाटी रीति कहलाती है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

प्राचीन आचार्यों की स्थापित मान्यताओं से हटकर आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित करके एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया- **वक्रोक्ति सम्प्रदाय।** आचार्य कुन्तक के अनुसार जब शास्त्र एवं लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द-अर्थ की रचना से भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया जाता है, तो इससे काव्य में एक विचित्रता उत्पन्न होकर सौन्दर्य का समावेश होता है। यह विचित्रता ही वक्रोक्ति है- **''विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते'** (वक्रोक्ति जीवित

1/10 की वृत्ति')। और यही काव्य का प्राणभूत तत्त्व है।

विकास क्रम- वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ है वक्र उक्ति, टेढ़ी उक्ति। किसी बात को अलौकिक रूप से प्रगट करना ही उक्ति की वक्रता है। भामह के अनुसार लोक का अतिक्रमण करने वाला वचन वक्रोक्ति है- **'लोकातिक्रान्तगोचरं वचः।'** काव्य में शब्द तथा अर्थ की लोकोत्तर रूप में स्थिति वक्रता कहलाती है। वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग काव्य साहित्य में अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। लोक और साहित्य में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता रहा; किन्तु काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इस पद का प्रयोग सर्वप्रथम **आचार्य भामह** ने किया। भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को अभिन्न माना और अलंकारों के लिए वक्रोक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित की। (कोऽलंकारोऽनया विना-काव्यालंकार 2/85)। वक्रोक्ति से रहित काव्य में काव्यत्व नहीं होता, यह वार्ता मात्र है (2/87)।

आचार्य दण्डी का मत भी कुछ अंशों में भामह को सदृश ही था। दण्डी ने भी अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को पर्यायवाची मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल कहा था। किन्तु फिर भी दण्डी वक्रोक्ति के प्रतिपादन में भामह से भिन्न भी हैं। दण्डी ने व्रकोक्ति को किसी अलंकार विशेष का नाम न देकर उपमा आदि सभी अलंकारों का वक्रोक्ति के रूप में कथन किया।

भामह एवं दण्डी ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल मानकर उसे जो अत्यन्त व्यापक स्वरूप प्रदान किया है, वह परवर्ती युग में मान्य नहीं रहा। वामन एवं रुद्रट ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार अथवा शब्दालंकार मात्र माना है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानकर उसे काव्यसौन्दर्य का अभिव्यंजक कहा।

आचार्य कुन्तक और भोज लगभग समकालीन थे। भोज ने भी वक्रोक्ति पर विशद विचार किया था, तथा इसको काव्य में बहुत अधिक महत्व दिया था। भोज ने समस्त काव्य साहित्य को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा रसोक्ति के तीन वर्गों में विभक्त किया था (सरस्वतीकाण्ठाभरण 5/9).

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का विस्तृत विवेचन करने के लिए 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ की रचना की, और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा पद पर प्रतिष्ठित किया। कुन्तक के अनुसार विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है- **''वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते''** (वक्रोक्तिजीवित 1/1) इस लक्षण के तीनों पद सभिप्राय हैं। **वैदग्ध्य** का अर्थ है विदग्धता अथवा कविकर्म की निपुणता। **भंगी** का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार या चारुता। **भणिति** का अर्थ है कथन। अतः इस

सम्पूर्ण लक्षण का अर्थ इस प्रकार है कि वक्रोक्ति कविकर्म के चमत्कार से उत्पन्न होने वाले चमत्कार के ऊपर आश्रित कथन है। दूसरे शब्दों में वक्रोक्ति कथन का वह प्रकार है जिसमें कवि की प्रतिभा के कारण चमत्कार उत्पन्न होता है। कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति लक्षण की व्याख्या इस प्रकार की- "**वक्रोक्ति प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः? वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छितिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।**

"कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में तीन स्थलों पर तीन प्रकार से वक्रोक्ति की व्याख्या की है-

1. शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द-अर्थ के प्रयोग से भिन्न प्रयोग (वक्रोक्ति जीवित 1/7 वृत्ति)
2. लोक आदि में प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न शब्द अर्थ का प्रयोग (वक्रोक्ति जीवित 1/18 की वृत्ति)
3. लोक में प्रसिद्ध शब्द अर्थ के व्यवहार के मार्ग को अतिक्रान्त करने वाला शब्द-अर्थ का प्रयोग।

(वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ 195)

इन सभी का सामान्य अभिप्राय यह है कि लोकोत्तर चमत्कारी वर्णन शैली ही विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति जिस वर्णन में होती है, वही काव्य होता है।" ऐसा काव्य ही सहृदयाह्लादकारी होता है।

कुन्तक ने काव्य के सभी तत्त्वों का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव करते हुए अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण किया और वक्रोक्ति के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन प्रस्तुत किया (वक्रोक्तिजीवित 1/18----21) तदनुसार वक्रोक्ति के मुख्य छह भेद हैं, जिनके नामों से ही वे भेद स्पष्ट हो जाते हैं।

1. वर्ण-विन्यास वक्रता- यह वक्रता अक्षरों के विन्यास में रहती है। काव्य रचना में एक, दो या अधिक व्यंजन वर्णों का तनिक से अन्तर के साथ पुनः निवेशन ही वर्ण विन्यास वक्रता है। इस वक्रता में अनुप्रास और यमक अलंकार, कैशिकी आदि तीन वृत्तियां और वैदर्भी आदि सभी रीतियां अन्तर्भूत हो जाती हैं।

2. पदपूर्वार्द्धवक्रता- धातु अथवा प्रतिपादिक एवं प्रत्यय के संयोग से शब्द की रचना होती है। धातु या प्रतिपादिक को पदपूर्वार्द्ध कहते हैं। पदपूर्वार्द्ध का विन्यास वैचित्र्य ही पदपूर्वार्द्धवक्रता है। कुन्तक ने इसके नौ उपभेद कहे हैं, जिनमें पर्याय (समानार्थक शब्द), रूढ़ि (प्रयोग से आने वाले शब्द), उपचार, विशेषण,

संवृत्ति, वृत्ति (समास तथा तद्धित प्रत्यय), भाव (धातु), लिंग और क्रिया की वक्रताएं समाविष्ट हैं।

3. पदपरार्द्धवक्रता अथवा प्रत्यय वक्रता- प्रत्ययों का विन्यास वैचित्र्य ही पदपरार्द्धवक्रता है। कुन्तक ने इसके छह उपभेद कहे हैं, जिसमें काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह (तीनों वाच्य), तथा प्रत्यय वक्रताएं समाविष्ट हैं।

4. वाक्यवक्रता- पदसमूह या वाक्यविन्यास का सौन्दर्य ही वाक्यवक्रता है। कुन्तक के अनुसार सारा ही अलंकार वर्ग इसमें अन्तर्भूत हो जाता है। वाक्य में होने वाली वक्रता के असंख्य भेद हैं। कवियों की प्रतिभा अनन्त होने के कारण वाक्यवक्रता के भेदों का नियमन नहीं किया जा सकता (वक्रोक्तिजीवित 1/20.)

5. प्रकरण वक्रता- प्रकरण का अर्थ है पूरे ग्रन्थ के अन्तर्गत एक वर्ण्य विषय। प्रकरणों के परस्पर सहयोग से प्रबन्ध की उत्कृष्टता होती है और प्रकरण का विन्यास वैचित्र्य ही प्रकरण वक्रता है। प्रकरण में यह वक्रता नौ प्रकार से लाई जा सकती है-

(1) पात्रों के चरित्र-वैशिष्ट्य से

(2) नवीन प्रसंग उत्पादन से

(3) प्रकरण को प्रबन्ध के उपकारक रूप में रखने से;

(4) भावपूर्ण स्थल के विस्तार से,

(5) रोचक वर्णन-विस्तारों से,

(6) प्रधान रस की उत्कर्षक कल्पना से,

(7) फलसिद्धि के लिए नूतन प्रसंग-अवतारणा से,

(8) गर्भांग विधान से,

(9) प्रकरणों में पूर्वापर अन्विति क्रम से मुख आदि सन्धियों के विधान से।

6. प्रबन्धवक्रता- पूरे प्रबन्ध का अर्थ है समस्त दृश्य अथवा श्रव्य काव्य ग्रन्थ। सम्पूर्ण प्रबन्ध की दृष्टि से विन्यास सौन्दर्य को प्रबन्ध वक्रता कहा जाता है। प्रथम पांच प्रकार की वक्रता इस वक्रता का अंगमात्र है। सारी अन्य वक्रताओं का लक्ष्य सामूहिक रूप से प्रबन्ध वक्रता को उत्पन्न करने में है। कुन्तक ने इस वक्रता के छह उपभेदों का कथन किया है।

इतना विस्तृत विवेचन करके भी कुन्तक की यही मान्यता थी कि सारे भेदोपभेद तो निदर्शन मात्र हैं। वक्रोक्ति के तो अनन्त भेद है जिनकी उत्प्रेक्षा शिष्ट सहृदयजनों को स्वयमेव कर लेनी चाहिए- **''एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः। शिष्टाश्च सहस्त्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे**

स्वयमेवोत्प्रेक्षणीया:।'' (वक्रोक्तिजीवित 1/19 की वृत्ति)

यह ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्तक के समय तक रस, अलंकार, रीति एवं ध्वनि सम्प्रदायों का प्रवर्तन हो चुका था। कुन्तक ने इन सभी सम्प्रदायों का सम्यक् अनुशीलन करके उन सबका प्रबल खण्डन किया एवं वक्रोक्ति को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में स्थापित किया। कुन्तक ने अलंकार, रीति, रस, ध्वनि एवं काव्य के सभी सौन्दर्याधायक तत्त्वों का अन्तर्भाव वक्रोक्ति में कर दिया, क्योंकि वे इन सभी तत्त्वों की अपेक्षा वक्रोक्ति का क्षेत्र बहुत विस्तृत एवं व्यापक मानते थे। किन्तु वक्रोक्ति का सांगोपांग विवेचन करने पर भी कुन्तक का सिद्धान्त चिरमान्य नहीं हो सका। कुन्तक के परवर्ती प्राय: सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को शब्दार्थरूपी काव्यशरीर से सम्बद्ध माना और उसे एक शब्दालंकार ही मान कर उसका वर्णन किया। इस प्रकार कुन्तक से प्रवर्तित वक्रोक्ति सम्प्रदाय, कुन्तक के साथ ही समाप्त हो गया।

औचित्य सम्प्रदाय

लोक हो या साहित्य- सर्वत्र ही औचित्य का अत्यधिक महत्त्व है। या यो कहें कि औचित्य का साम्राज्य बहुत ही व्यापक, विस्तृत तथा विशाल है। जो वस्तु जिसके अनुकूल होती है, उसे तदर्थ उचित कहा जाता है और उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है। संस्कृत आलोचना में भी सर्वाधिक व्यापक तत्त्व औचित्य ही है, क्योंकि काव्यजगत् में औचित्य ही सर्वातिशायी है। रस हो या अलंकार, गुण हो या अभिनय- सभी औचित्य होने पर सफल होते हैं। समस्त सौन्दर्य की भावना औचित्य पर ही आधारित होती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र में औचित्य सम्प्रदाय के उन्नायक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ **'औचित्यविचारचर्चा'** में औचित्य तत्त्व को काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व घोषित किया। ''औचित्य को काव्य का जीवित'' कहने का रहस्य यही है कि रस में रसत्व, अलंकार में अलंकारत्व, गुण में गुणत्व और रीति में रीतित्व तभी होते हैं जब इनका संविधान औचित्यपूर्ण होता है।''-

अलंकारास्त्वलंकारा: गुणा: एव गुणा: सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

(औचित्यविचार चर्चा 5)

यदि काव्य में औचित्य न हो, तो उपर्युक्त सारे तत्त्व विरसता उत्पन्न करेंगे और काव्य का सौन्दर्य नष्ट होकर उसमें काव्यत्व ही नहीं रहेगा। काव्य का प्रत्येक अंग तथा उपांग, शब्द तथा अर्थ, पद तथा वाक्य, गुण तथा रस औचित्य की छत्रछाया में

पनपता है और अपनी कृतार्थता सम्पादित करता है। औचित्य की जीवनी शक्ति से ही ये सब अपने पद पर स्थिर रहते हैं।

विकास क्रम- क्षेमेन्द्र के द्वारा काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में औचित्य की प्रतिष्ठा किए जाने से पूर्व भी इसकी अनिवार्यता और महत्त्व से काव्यशास्त्रीय आचार्य अनभिज्ञ नहीं थे। औचित्य नाम न देकर भी इस तत्त्व की चर्चा भरत, भामह, दण्डी आदि सभी में उपलब्ध होती है। नाट्याभिनय के लिए **आचार्य भरत** ने जो निर्देश दिए है (नाट्यशास्त्र 14/68; 23/69; 26/119.) उनसे औचित्य के क्रियात्मक महत्व का समुचित परिज्ञान होता है। भरत ने लोकवृत्ति, लोकधर्म तथा लोकव्यवहार पर पुनः पुनः बल दिया है-

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते।। नाट्यशास्त्र 26/113.

इन सबसे औचित्य का प्रतिपादन ही ग्रहण होता है। भरत की इसी विचारसरणि को ग्रहण करके परवर्ती आचार्यों ने औचित्य की अनिवार्यता कही थी, भले ही उन्होंने औचित्य शब्द ग्रहण किया या न भी किया।

आचार्य भामह ने भी प्रकारान्तर से औचित्य पर ही सर्वाधिक बल दिया। इसके लिए उन्होंने विभिन्न स्थलों पर अनेक उदाहरण दिए। भामह के अनुसार अनौचित्य ही सबसे बड़ा दोष है। यदि दुष्ट उक्ति का भी औचित्यपूर्ण सन्निवेश किया जाए, तो वह दोषपूर्ण उक्ति भी वैसे ही सुशोभित होती है जैसे माला के बीच में गुंथा हुआ नील पलाश शोभाजनक होता है। कभी असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से उसी प्रकार शोभा का आधान करती है जैसे सुन्दरी स्त्री के नेत्रों में लगा हुआ काला काजल भी सौन्दर्यवृद्धि कर देता है-

किंचिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसाविवांजनम्।।

(भामह- काव्यालंकार 1/55)

आचार्य दण्डी ने भी भामह की विचारधारा का अनुवर्तन किया। उनके कथन का तात्पर्य था कि गुण या दोष स्वयं में गुण या दोष नहीं है; किन्तु औचित्य के विधान से ही गुणों को गुण समझना चाहिए और इसी प्रकार अनौचित्य के होने पर ही दोषों में दोषत्व आता है। वस्तुतः भामह और दण्डी दोनों ने काव्यगुणों एवं काव्यदोषों के विवेचन में औचित्य और अनौचित्य की हेतुता का प्रतिपादन किया था- (भामह-काव्यालंकार 4/14; काव्यादर्श 4/5, 10, 57)। बस, केवल औचित्य शब्द को ग्रहण नहीं किया था।

अलंकारवादी आचार्यों ने काव्यरचना में औचित्य के विशेष महत्त्व को भी स्वीकार किया और औचित्य शब्द का भी ग्रहण किया। **आचार्य रुद्रट** ने औचित्य के अनुवर्तनपूर्वक ही अनुप्रास, यमक आदि अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग सम्भव माना (रुद्रट- काव्यालंकार 2/32, 3/59.)। दोषों के विवेचन में भी रुद्रट ने अनौचित्य को ही दोष का हेतु कहा। रुद्रट के अनुसार देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान, पात्रों के व्यवहार, आकार, वेश और वचनों में अनौचित्य होना ही ग्राम्यत्व दोष है।

ध्वनिवादी **आचार्य आनन्दवर्धन** ने काव्य में औचित्य को बहुत महत्व प्रदान किया। आनन्दवर्धन ने कहा कि काव्य में रस के औचित्य से दृष्टि से ही अलंकारों को विनिवेशित किया जाना चाहिए। उन्होंने तो अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति, संघटना, प्रबन्ध, रस-- सभी के औचित्य का प्रतिपादन किया और स्पष्ट घोषणा की कि ''अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं होता-

''**अनौचित्याद् ऋते नान्यद्, रसभंगस्य कारणम्**'' (धवन्यालोक 3/14)

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी औचित्य के महत्व को परिभाषित किया। उनका मत था कि काव्य में रस अलंकार्य है और अलंकार्य रस को उचित रूप से सुशोभित करने वाले अलंकारों का ही काव्य में औचित्य होता है। ''रसध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध है तथा औचित्य रसध्वनि का प्राणभूत है, इसका अभिनवगुप्त ने स्पष्ट निर्देश दिया था।'' (ध्वन्यालोक 2/6 पर लोचन टीका)

भोज ने अपने दोनों ग्रन्थों में औचित्य की आवश्यकता का कथन किया था। उन्होंने अनेक स्थानों पर गुण, दोष और अलंकारों के निर्धारण के लिए औचित्य को आधार माना। भोज का कहना था कि कवि को भाषा का प्रयोग विषय, वक्ता, काल और देश के औचित्य के आधार पर करना चाहिए (सरस्वती कण्ठाभरण 2/8)। काव्य में कहां गद्य, कहां पद्य तथा कहां मिश्र प्रयोग हो, यह विधान भी भोज ने औचित्य के आधार पर किया (सरस्वती कण्ठाभरण 2/18)।

आचार्य कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया था, तथापि उन्होंने भी औचित्य की अनिवार्यता मानी। विविध प्रकार की वक्रताओं का आधार भी कुन्तक ने औचित्य ही कहा (वक्रोक्ति जीवित 2/10, 21, 22, 23, 25, 26, 31.)

अभिनवगुप्त के शिष्य **क्षेमेन्द्र** ने औचित्य के सिद्धान्त की स्थापना करके इसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया। उन्होंने औचित्य का लक्षण इस प्रकार दिया- 'जो वस्तुत जिसके सदृश (अनुरूप) होती है, उसे आचार्य जन उचित कहते हैं, और उचित का भाव औचित्य कहलाता है।'

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल तस्य तत्।
उचितस्य च या भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।। औचित्यविचार चर्चा 7।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि काव्यगत यह औचित्य चमत्कारजनक एवं आस्वाद्यता उत्पादक होता है, तथा औचित्य ही रस का भी प्राणभूत तत्त्व है। क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में प्राणभूत औचित्य न होने पर अलंकार और गुण भी व्यर्थ हो जाते हैं। अलंकार काव्य के बाह्य उपकरण हैं, गुण अन्तरंग तत्त्व होने पर भी आत्मस्थानीय नहीं हैं। काव्य का स्थिर जीवित तत्त्व औचित्य ही है। अलंकारों का अलंकारत्व तथा गुणों का गुणत्व तभी है जब वे औचित्यपूर्वक विनियोजित हों।

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य निहित होने के कारण उसके अनन्त भेद होते हैं जिनको गिना ही नहीं जा सकता। काव्य के प्रत्येक अंग और उपांग पर इस तत्त्व का व्यापक प्रभाव है। फिर भी क्षेमेन्द्र ने विचारपूर्वक औचित्य के 27 भेदों का विवेचन किया (औचित्यविचारचर्चा 8, 9,10)। 1. पद, 2. वाक्य, 3. प्रबन्ध, 4. गुण, 5. अलंकार, 6.रस, 7. क्रिया, 8. कारक, 9. लिंग, 10. वचन, 11. विशेषण, 12. उपसर्ग, 13. निपात, 14. काल, 15. देश, 16. कुल, 17. व्रत, 18. तत्त्व, 19. सत्त्व, 20. अभिप्राय, 21. स्वभाव, 22. सारसंग्रह, 23. प्रतिभा, 24. अवस्था, 25. विचार, 26. नाम, 27. आशीर्वाद। (औचित्यविचारचर्चा 8...10)।

क्षेमेन्द्र ने इन सभी भेदों का विशद विवेचन किया, जिनको विस्तारभय से यहां नही दिया जा रहा। वस्तुतः ''क्षेमेन्द्र ने लोकमर्यादा के आधार पर औचित्य को काव्य की आत्मा (जीवित) प्रतिपादित किया था। जिस प्रकार लोक के व्यवहार में मर्यादा के पालन तथा सुव्यवस्था की रचना के लिए औचित्य का निर्वाह करना परम आवश्यक होता है, उसी प्रकार काव्य की मर्यादा को बनाए रखने और उसमें सौन्दर्य का चमत्कार लाने के लिए औचित्य का पालन करना भी परम आवश्यक है। काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि तत्त्वों के नियोजन में औचित्य की मर्यादा का पालन करना परम अनिवार्य है, क्योंकि इस एक औचित्य के अभाव में काव्य के सभी गुण निरर्थक हो जाते हैं। आचार्यों ने काव्य में औचित्य को गुणों की राशि बताया है। इस औचित्य के अभाव में गुणों का पूरा समूह विष के तुल्य उद्वेजक हो जाता है।''

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व ही औचित्य तत्त्व की ऐतिहासिक पीठिका पर्याप्त पुष्ट थी। क्षेमेन्द्र ने उसी औचित्य को विभिन्न तर्कों और विवेचन सहित काव्य का स्थिर आत्मतत्त्व घोषित किया। किन्तु यह

औचित्य सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। इसका मुख्य कारण यही रहा कि काव्य में औचित्य साधन के रूप में है, औचित्य साध्य नहीं है। काव्य की रचना रस आदि की आनन्द प्राप्ति के लिए होती है, औचित्य से रस का उत्कर्ष अवश्य होता है, किन्तु औचित्य ही कवि का उद्देश्य या साध्य नहीं होता। अत: काव्य में औचित्य महत्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु वह काव्य की आत्मा नहीं हो सकता।

ध्वनि सम्प्रदाय

काव्य का अन्तस्त्व या आत्मा क्याहै? इस खोज के समस्त क्षेत्र में भारतीय काव्यालोचन एवं सौन्दर्यदर्शन का एक अप्रतिम सिद्धान्त है- **ध्वनिसम्प्रदाय**- जिसमें अन्य सभी सिद्धान्तों का समाहार होगया। काव्यात्मतत्त्व के तात्त्विक विवेचन एवं अपनी व्यापक दृष्टि के कारण यह सिद्धान्त सर्वप्रसिद्ध है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इस विवेचन में तर्कपूर्वक यह सिद्ध कर दिया कि रस, रीति, अलंकार, गुण आदि सभी ध्वनि के सहायक किंवा अंगभूत है। काव्य में ध्वनि ही आत्मतत्त्व है, अन्य कोई तत्त्व काव्य की आत्मा हो ही नहीं सकता। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है, जिन्होंने अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ के द्वारा इस महनीय सिद्धान्त की स्थापना की। ध्वनि सिद्धान्त की महनीयता इसी में है कि ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी काव्य के अन्य तत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई। इस सिद्धान्त के विरोधी आचार्यों की कमी भी नहीं रही,किन्तु अपने अन्तर्बल के आधार पर यह स्थिर रहकर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ।

ध्वनि क्या है? जहां काव्य में वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनिकाव्य है। अर्थ मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं- (1) वाच्य, और (2) प्रतीयमान। वाच्य अर्थ के अन्तर्गत अलंकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। महाकवियों के काव्य में उसके अंगों से पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित ही वर्तमान रहती है जैसे एक कामिनी के शरीर में उसके अंगों से पृथक् एक भिन्न वस्तु-लावण्य की शोभा रहती है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यदेतत्, प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।।

(ध्वन्यालोक 1/4)

काव्य के अन्य सब तत्त्वों से भिन्न उसमें जो प्रतीयमान अर्थ है, वही सहृदय को आह्लादित करता है-। और उसी को ध्वनि कहते हैं। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है- '**काव्यस्यात्मा स एवार्थ:...** (ध्वन्यालोक 1/5.)

ध्वनि के शब्द तथा तत्त्व के लिए अलंकारशास्त्री वैयाकरणों के ऋणी है। वैयाकरण जन 'स्फोट' नामक ऐसा तत्त्व मानते थे, जिससे अर्थ फूटता है या आविर्भूत होता है। 'स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः- इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ जिस शब्द से फूटता है, अभिव्यक्त होता है, वह स्फोट कहलाता है। डॉ. कृष्णकुमार ने आनन्दवर्धन के ही कथन (ध्वन्यालोक 1/13 की वृत्ति) को प्रस्तुत करते हुए कहा- ''ध्वनि के लक्षण में 'सूरिभिः कथितः' पदों की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धन का कथन है कि यह ध्वनिसिद्धान्त यों ही प्रामाणिक रूप से प्रचलित नहीं हो गया है, परन्तु विद्वानों ने इसे प्रारंभ किया था। सबसे प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं जो कि सुनाई देने वाले पदों में ध्वनि संज्ञा का व्यवहार करते हैं। वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्यार्थतत्त्ववित् समालोचकों ने उनके ही अनुसार वाच्यवाचकसंमिश्र (व्यंग्य अर्थ),व्यंजनाव्यापार (शब्दात्मा) और काव्य इन सबको ध्वनि कहा।''

अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के कथन को और अधिक स्पष्ट किया- 'अतः **वाच्य अर्थ** भी ध्वनि है और **वाचक शब्द** भी ध्वनि है क्योंकि दोनों का ध्वनन व्यंजकत्व व्यापार करता है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन के द्वारा जो सम्मिश्रित कर दिया जाता है, वह **व्यंगार्थ** भी ध्वनि है क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्दन शब्द अर्थात् **शब्द का व्यापार** भी ध्वनि है, जो कि अभिधा आदि स्वरूपात्मक नहीं है अपितु आत्मभूत है। **काव्य** नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है क्योंकि उक्त चारों ध्वनिप्रकार उसमें निहित रहते हैं।' (ध्वन्यालोक 1/13. की वृत्ति पर लोचन टीका)।

आचार्य विश्वेश्वर ने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ की टीका की भूमिका में उपर्युक्त पांचों में ध्वनित्व की सिद्धि निम्नलिखित प्रकार से की है-

1. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः- वह व्यंजक शब्द, जो ध्वनित करे या कराए, ध्वनि कहलाता है।

2. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः- वह व्यंजक अर्थ ध्वनि कहलाता है जो ध्वनित करे या कराए।

3. ध्वन्यते इति ध्वनिः- जो ध्वनित किया जाए वह व्यंग्य अर्थ ध्वनि है। इसके अन्तर्गत रस, अलंकार और व्यंग्य- ये तीनों प्रकार के व्यंग्य अर्थ आ जाते हैं।

4. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए, वह शब्द अर्थ का व्यापार व्यंजना शक्ति ध्वनि है।

5. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः- जिसमें रस, अलंकार, वस्तु आदि ध्वनित होते हैं, वह काव्य ध्वनि है।

काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि की स्थापना आनन्दवर्धन ने अवश्य की थी, किन्तु आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती रीतिवादी तथा अलंकारवादी आचार्य भी काव्य के प्रतीयमान अर्थ के महत्त्व से सुपरिचित अवश्य थे, यह स्वयं ध्वनिकार ने स्वीकार किया है (ध्वन्यालोक 1/19, 3/37 की वृत्ति, 3/47 आदि) रीतिवादी आचार्यों को काव्य की ध्वनि रूप आत्मा का अस्फुट रूप से आभास था, परन्तु वे इस तत्त्व की समुचित रूप से व्याख्या नहीं कर सके और उन्होंने रीतियों को प्रवर्तित कर दिया(ध्वन्यालोक 3/47) ।

प्राचीन अलंकारवादी भी ध्वनि के आधार प्रतीयमान अर्थ से सुपरिचित थे। ''जिन भामह आदि आचार्यों ने अलंकारों को ही काव्य की शोभा का आधायक तत्त्व माना था, उन्होंने भी अनेक अलंकारों-पर्यायोक्त,अप्रस्तुतप्रशंसा आदि- में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को स्वीकार किया था। इसी आधार पर अलंकारवादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था (ध्वन्यालोक 1/13 की वृत्ति और उस पर अभिनवगुप्त की टीका) । उद्भट ने भी रस आदि ध्वनियों को रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि आदि अलंकारों में अन्तर्भावित करने का प्रयास किया था।'

ध्वनि की चर्चा आनन्दवर्धन से पूर्व भी काव्यशास्त्रियों में प्रतिष्ठा प्राप्त थी- इस तथ्य का एक प्रमाण यह भी है कि स्वयं आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक की पहली ही कारिका में ध्वनिविरोधी तीन मतों- अभाववाद, भक्तिवाद और अलक्षणीयतावाद- के विभिन्न पक्षों का उल्लेख भी किया है और तर्कपूर्वक उनका प्रबल खण्डन भी किया है। इससे भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रचलन भले ही आनन्दवर्धन से पहले हो गया हो, किन्तु इस सिद्धान्त को व्यवस्थित, वैज्ञानिक एवं सुपुष्ट स्वरूप तथा दृढ़ आधारभूमि आनन्दवर्धन ने ही प्रदान की।

आनन्दवर्धन के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन एवं दृढ़ स्थापन करने पर भी कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यों ने ध्वनि के खण्डन का भी प्रयास किया। ऐसे आचार्यों में भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र प्रमुख हैं।

भट्टनायक आनन्दवर्धन से परवर्ती और अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती आचार्य थे तथा रस सूत्र की व्याख्या में इनका भुक्तिवाद पर्याप्त चर्चित रहा। भट्टनायक को व्यंजना व्यापार ही मान्य नहीं था। इन्होंने '**सहृदयदर्पण**' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो अनुपलब्ध है किन्तु उसके उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिल जाते हैं। भट्टनायक

ने रस के आस्वादन को स्वीकार करके भी व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं किया और काव्य में केवल अभिधा को ही आवश्यक माना।

महिमभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त पर तीव्र प्रहार किया। ध्वनि के खण्डन के लिए महिमभट्ट ने '**व्यक्तिविवेक**' नामक ग्रन्थ की रचना की। आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत ध्वनि की परिभाषा का भी महिमभट्ट ने खण्डन किया। महिमभट्ट अभिधावादी थे और उन्होंने ध्वनिवादियों के प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व स्थापित करने के लिए '**वक्रोक्तिजीवित**' ग्रन्थ की रचना की और ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं स्वीकार किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के जितने भी प्रभेद कहे थे, कुन्तक ने उन सबको वक्रोक्ति में ही समाविष्ट कर दिया। कुन्तक ने रस के महत्व को स्वीकार करके भी उसे वक्रता से भिन्न नहीं माना।

क्षेमेन्द्र ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को काव्यात्मतत्त्व सिद्ध किया– इसीलिए इन्हें भी ध्वनिविरोधी आचार्य मान लिया जाता है। क्षेमेन्द्र ने रस, गुण, अलंकार सभी का अन्तर्भाव औचित्य में कर दिया था।

आनन्दवर्धन से उत्तरवर्ती इन आचार्यों की ध्वनिविरोधी युक्तियों का अन्य आचार्यों ने तर्कपूर्वक खण्डन किया और ध्वनि ही काव्यात्मतत्त्व के रूप में साहित्यशास्त्र में सर्वप्रतिष्ठित हो गया।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की थी–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

(ध्वन्यालोक 1/13.)

अर्थात् 'जहां (वाच्य) अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।' अर्थात् जिस काव्य में शब्द एवं अर्थ स्वयं को अप्रधान बनाकर एक अपूर्व व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह ध्वनि काव्य कहलाता है। ध्वनि में व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ से महत्वपूर्ण होना आवश्यक है। 'वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ के अतिशयित होने का अभिप्राय यही है कि वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ में चमत्कार का चारुत्व अधिक होता है। वाच्य और व्यंग्य अर्थों में प्रधानता या अतिशयता उनके चारुत्व के अतिशय के आधार पर होती है।' वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अतिशयसम्पन्न होने पर **ध्वनिकाव्य** होता है; किन्तु यदि व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक रमणीय एवं चारुता सम्पन्न

हो, तब वह काव्य **गुणीभूतव्यंग्य काव्य** की श्रेणी में आता है। (ध्वन्यालोक 3/45)। जिस काव्य में केवल अलंकारों का आडम्बर हो, उसे आनन्दवर्धन ने काव्य ही नहीं माना, वरन् काव्य की अनुकृति मात्र कहा है '' ...... **न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ।**'' (ध्वन्यालोक 3/41 की वृत्ति)।

आनन्दवर्धन के मत में काव्य में प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का हो सकता है- रस, अलंकार और वस्तु। और इसी आधार पर ध्वनि के भी तीन भेद कर दिए- रसध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि। आनन्दवर्धन ने इन तीनों में से रसध्वनि को ही काव्य के परम तत्त्व के रूप में मान्यता दी।

आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की, उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रायः उसी को मान्यता दी। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर लोचन नामक टीका लिखी और उसमें विस्तार से इस सिद्धान्त की चर्चा और व्याख्या की। उन्होंने ध्वनि से सम्बद्ध सभी शंकाओं का समाधान किया। अभिनवगुप्त ने ध्वनि के सम्बन्ध में अनेक नवीनताओं को भी स्थापित किया और इस प्रकार इस सिद्धान्त को दृढ़ कर दिया।

ध्वनि सम्प्रदाय में आचार्य मम्मट का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, आनन्दवर्धन के उपरान्त भट्टनायक, मुकुलभट्ट आदि ने ध्वनि पर प्रबल प्रहार करके उसका खण्डन किया था। आचार्य मम्मट ने ध्वनिविरोधियों की सभी युक्तियों का तर्कपूर्वक खण्डन किया और काव्य में ध्वनि की महत्ता, उपयोगिता तथा व्यापकता की स्थापना की। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थान-परमाचार्य' के नाम से स्मरण किया जाता है।

आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन के समान ही ध्वनि का लक्षण किया (काव्य प्रकाश 1/4)। उन्होंने काव्य में ध्वनि की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर काव्य के तीन भेद किए- उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम काव्य- जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अतिशयित होता है तब वह उत्तम काव्य होता है।

मध्यमकाव्य- व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी न होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है और वह मध्यम काव्य है।

अधम काव्य- व्यंग्य अर्थ से रहित केवल शब्द चित्र अथवा अर्थचित्र काव्य अधम काव्य है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अधम काव्य को काव्य की संज्ञा न देकर काव्य की अनुकृति मात्र कहा था।

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि के लक्षण में आनन्दवर्धन का ही अनुसरण किया।

उन्होंने ध्वनि की अतिशयता को ही उत्तम काव्य का आधार बनाया तथा मम्मट की ही भांति वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी न होने पर गुणीभूत व्यंग्य या मध्यम काव्य कहा। मम्मट ने जिसे अधम काव्य स्वीकार किया था, आचार्य विश्वनाथ ने उसमें काव्यत्व का खण्डन किया और काव्य के दो ही भेद स्वीकार किए। (साहित्य दर्पण 4/1; 4/13)

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगंगाधर' ग्रन्थ में ध्वनि सिद्धान्त का तर्कसम्मत प्रबल समर्थन किया। जगन्नाथ ने पूर्वाचार्यों का अनुसरण करके भी काव्य भेदों में तनिक विशेषता रखी और काव्य के चार भेद प्रस्तुत किए- (रसगंगाधर-प्रथम आनन)-

उत्तमोत्तम काव्य- जब शब्द और अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं तो वह उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य है।

उत्तम काव्य- जब व्यंग्य अर्थ अप्रधान रहकर ही चमत्कार उत्पन्न करता है, तो वह गूणीभूतव्यंग्य नाम का उत्तम काव्य है।

मध्यम काव्य- जब व्यंग्यार्थ के चमत्कार का समानाधिकरण न होकर वाच्यार्थ चमत्कार का हेतु होता है, तब अर्थचित्र नामक मध्यम काव्य होता है।

अधम काव्य- जब अर्थ के चमत्कार से उपस्कृत शब्द (अलंकार) का चमत्कार होता है तब शब्दचित्र नामक अधम काव्य कहलाता है।

वस्तुतः ध्वनि प्रस्थान के अन्तिम प्रौढ़ आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ही हुए। और आनन्दवर्धन के द्वारा स्थापित ध्वनि सिद्धान्त परवर्ती अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों के द्वारा प्रबलतया समर्थित तथा पुष्ट किया जाकर सर्वसम्मत और सर्वश्रेष्ठ हो गया।

OOO

काव्यशास्त्रीय प्रमुख आचार्य

सम्पूर्ण विश्व में उपलब्ध जितना भी प्रामाणिक साहित्य है-उन सबमें संस्कृत वाङ्मय सर्वाधिक प्राचीन है- यह निर्विवाद सत्य हैं। प्रत्येक साहित्य में अनेक विधाएं होती हैं यथा-काव्य, गद्य, कथा, नाटक आदि। संस्कृत साहित्य में भी अनेक विधाओं में प्रचुर मात्रा में रचनाएं प्राप्त होती हैं। हर विधा का अपना निजी वैशिष्ट्य है; किन्तु इनमें भी संस्कृत की नाट्य विधा का स्थान कुछ विलक्षण ही है। इसके साहित्यिक स्वरूप के साथ साथ इसका सर्वांगीण शास्त्रीय विवेचन भी संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में प्राचीन समय से ही प्राप्त होता है।

उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य भरतकृत ग्रन्थ- नाट्यशास्त्र- ही प्रथम हैं। किन्तु भरत ही प्रथम शास्त्र रचयिता नहीं थे- इस कथन के दो स्पष्ट कारण हैं। प्रथमत:, भरत ने स्वयं अनेक स्थलों पर अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है; द्वितीयत:, भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का जितना स्पष्ट, प्रौढ़ और वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, वह एकबारगी सम्भव ही नहीं हो सकता, यदि उससे पूर्व दीर्घकालिक शास्त्रीय परम्परा न चली आ रही हो। अत: भरत कृत नाट्यशास्त्र उसी परम्परागत विचारधारा का चरम परिपाक रूप ग्रन्थ है। फिर भी आचार्य भरत से पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। परवर्ती आचार्यों के द्वारा उनके सम्बन्ध में किए उल्लेखों से यत्किंचित ज्ञान ही प्राप्त होता है।

काव्यशास्त्रीय अथवा नाट्यशास्त्रीय परम्परा कब प्रारंभ हुई- यह कह सकना अत्यन्त दुष्कर ही है। भरत ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों में कुछ आचार्यों का उल्लेख अवश्य किया। भरत से परवर्ती कतिपय अन्य नाट्यशास्त्रकारों ने भी भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों को विभिन्न स्थलों पर स्मरण किया है। 'भाव प्रकाशन' ग्रन्थ के रचयिता शारदातनय ने ऐसे अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है (3/6...8), जिनके विषय में 'इदमित्थंरूपेण' कुछ नहीं कहा जा सकता। भाव-प्रकाशन के

आधार पर इनका यत्किंचित परिचय इस प्रकार है-

सदाशिव- ये रसवादी आचार्य थे तथा इन्होंने सम्भवतः रस से सम्बद्ध किसी विषय पर ही ग्रन्थ रचना की थी।

शिव तथा शिवा- सदाशिव की भांति इनके विषय में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि इनका सम्बन्ध ताण्डव एवं लास्य नृत्य से रहा हो।

गौरी- शिवा तथा गौरी पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व थे अथवा एक- यह स्पष्ट नहीं है। नाट्यशास्त्र में भी इनका उल्लेख नहीं मिलता। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में इनका नामोल्लेख अवश्य किया है।

वासुकि- नाट्यशास्त्र के आनुवंश्य श्लोक के रूप में उद्धृत 'नानाद्रव्यौषधै...' इत्यादि श्लोक 'भाव प्रकाशन' में वासुकि के नाम से उद्धृत है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि भरत से पूर्व ही वासुकि ने रस विषय पर कोई ग्रन्थ लिखा था जो अब उपलब्ध नहीं है।

नारद- रसविवेचन के प्रसंग में ही नारद का भी उल्लेख मिलता है। इन्होंने आठ प्रमुख रसों के साथ नवम रस के रूप में शान्त रस का उत्पत्ति सहित वर्णन किया है।

कुम्भोद्भव- शारदातनय ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में इनका नामोल्लेख अवश्य किया है, किन्तु इनके व्यक्तित्व अथवा कृतित्व के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

व्यास- अनेकानेक ग्रन्थों के रचयिता व्यास एक व्यक्ति थे अथवा यह एक उपाधि थी- इसका निश्चय नहीं है। भाव प्रकाशनकार ने रसों के प्रधान-अप्रधान रूपेण विभाजन के प्रसंग में तथा उत्सृष्टिकांक की अंक संख्या के निर्धारण के अवसर पर व्यास का उल्लेख किया है। इस आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि व्यास कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय रस तथा रूपक रहा होगा।

आंजनेय- उत्सृष्टिकांक की अंक संख्या के निर्धारण के अवसर पर ही शारदातनय ने इनका भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

पद्मभू- आठ रसों को मानने वाले आचार्य के रूप में इनकी गणना की गई है।

वृद्ध भरत- रसनिष्पत्ति के प्रसंग में वृद्ध भरत का उल्लेख मिलता है, अतः इन्हें रसवादी आचार्य कहा जा सकता है। 'द्वादशसाहस्रीसंहिता' 'वेदागम' के रचयिता के रूप में वृद्ध भरत का नाम प्रसिद्ध है।

आचार्य भरत

जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि भरत का नाट्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में लेखक ने सिद्धान्तों का इतना प्रौढ़ और सर्वांगसम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया कि यह ग्रन्थ परवर्ती आचार्यों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बन गया। उत्तरवर्ती शास्त्रकारों ने यदा कदा ही अपना मौलिक मत उपस्थापित किया है; अन्यथा तो अधिकांशत: भरत सम्मत सिद्धान्तों को ही आधारभित्ति के रूप में ग्रहण करके अपनी शब्दावली में उनका विवेचन और संक्षिप्तीकरण कर दिया है।

किन्तु आचार्य भरत कौन थे? कोई पौराणिक व्यक्तित्व अथवा ऐतिहासिक पुरुष? उनका समय क्या था? नाट्यशास्त्र एक अकेले आचार्य भरत की रचना है अथवा अनेक शतियों में अनेक आचार्यों के परिश्रम का परिणाम?- ये अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो आज तक नहीं सुलझ सके हैं।

आचार्य भरत पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कैसे भी व्यक्तित्व रहे हों, थे वे अवश्य। कुछ विद्वान् मानते हैं कि अभिनेता ही भरत थे; अथवा नाटकों में अभिनय करने वाली एक विशिष्ट 'भरत' नामक जाति थी। किन्तु ऐसे किसी भी निर्णय के लिए ठोस प्रमाण नहीं है। यह भी सम्भव नही है कि इतना विस्तृत तथा इतने विविध विषयों को समाहित किए हुए ग्रन्थ की रचना एक व्यक्ति ने की हो। 'काव्यमीमांसा' के लेखक राजेशखर ने 'रूपकाधिकरण' लिखने का श्रेय आचार्य भरत को दिया है। अत: अधिक सम्भावना यही जान पड़ती है कि आचार्य भरत ने केवल नाट्यविषय को ग्रहण करके एक ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' की रचना की थी और इस शास्त्र के क्रमश: विकसित होते जाने पर किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों ने इतने विविध विषयों को इसमें समाहित कर दिया। ग्रन्थ में स्थल स्थल पर 'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ', 'अत्रार्ये' आदि प्रयोग भी यही संकेत करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि कुछ विद्वान् भरत को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हैं तो कुछ अन्य के मत में 'भरत' संज्ञा एक विशिष्ट आचार्य परम्परा को परिलक्षित करती है। शारदातनय कृत 'भावप्रकाशन' में सर्वत्र 'भरता:' 'भारता:' 'भरतादय:' इत्यादि बहुवचनान्त पदों का प्रयोग हुआ है। इससे भी स्पष्ट होता है कि भरतों की कोई परम्परा थी। काणे प्रभृति विद्वानों ने नाट्यशास्त्र को किसी एक व्यक्तिविशेष की रचना नहीं माना है। उनके अनुसार वर्तमान नाट्यशास्त्र एक संगृहीत रूप है।

नाट्यशास्त्र के अनेक व्यक्तियों की रचना या संग्रह मानने का मत संभवत: आचार्य अभिनवगुप्त से पहले भी प्रचलित था, किन्तु नाट्यशास्त्र पर भारती टीका में

अभिनवगुप्त ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अनेक प्रबल युक्तियों से इस मत का खण्डन करके नाट्यशास्त्र को एक ही व्यक्ति-भरत मुनि- की रचना प्रतिपादित किया।

भरत के नामकरण के संबंध में 'भावप्रकाशन' के दशम अधिकार में एक कथा मिलती है। उसके अनुसार एक बार ब्रह्मा के स्मरण करने पर सर्वप्रथम एक मुनि अपने कुछ शिष्यों के साथ उनके समक्ष उपस्थित हुए। ब्रह्मा ने उन्हें- 'नाट्यवेदं भरत'- इस प्रकार आदेश दिया। तब उस मुनि ने ब्रह्मा के द्वारा दिए गए नाट्यवेद को सम्यग्रूपेण ग्रहण किया और उसके सुन्दर प्रयोग के द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर दिया। सन्तुष्ट एवं प्रसन्न ब्रह्मा ने कहा- 'में तुम्हे नाट्यवेद का भरण (धारण, पोषण) करने के लिए कहा था;... अतः तुम तीनों लोकों में 'भरत' नाम से जाने जाओगे, और यह नाट्यवेद भी तुम्हारे नाम से ही प्रसिद्ध होगा।'

नाट्यशास्त्र की रचना का समय क्या है? यह प्रश्न भी आचार्य भरत की प्रामाणिकता के समान ही विवाद का विषय बना रहा है। इस ग्रन्थ के समय के संबंध में प्रमुख मत संक्षेप में इस प्रकार हैं-

1. डॉ. कीथ ने अनेक आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रमाण देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की तृतीय शती से पूर्व नहीं है।
2. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल द्वितीय शती ईसा पूर्व माना है।
3. श्री मनमोहन घोष ने भरत के भाषा वैज्ञानिक तथा छन्द सम्बन्धी विवेचन, केवल चार अलंकारों का वर्णन, उपाख्यानों तथा भौगोलिक विवरण के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती ईसा पूर्व से प्रथम शती ईस्वी के मध्य निर्धारित किया है।
4. डॉ. पी.वी. काणे ने अनेक युक्तियों और प्रमाणों तथा अन्य ग्रन्थकारों द्वारा दिए गए उल्लेखों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय तृतीय शती ईस्वी से पूर्व का निर्धारित किया है।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप- नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप कारिका निबद्ध है किन्तु इसकी अन्तरंग परीक्षा करने पर इस ग्रन्थ के तीन भाग स्पष्ट रूप से अलग अलग जान पड़ते हैं।

1. सूत्र- नाट्यशास्त्र में सूत्र में वे अंश है जिनमें भरत ने विभिन्न काव्यतत्त्वों के लक्षण कहे हैं। ये सूत्र गद्यात्मक या पद्यात्मक दोनों रूपों में प्राप्त हैं।

2. भाष्य अथवा वृत्ति- इन सूत्रों की व्याख्या स्वयं भरत ने सूत्रभाष्य में कर

दी है। अभिनवगुप्त का भी कथन है क भरत ने पहले सूत्र कह कर फिर उसकी वृत्ति अथवा 'सूत्रविवरणस्वभावा' कारिकाएं कही है। (अभिनव भारती)

3. श्लोक- इनके अन्तर्गत (क) भरत द्वारा स्वसिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले श्लोक हैं। (ख) गुरु शिष्य परम्परा में बहुत समय से प्रचलित आनुवंश्य श्लोक है जिन्हें भरत ने यथास्थान निवेशित कर दिया। (ग) पूर्ववर्ती सूत्रों के भाव को सरल भाषा में स्पष्ट करने वाले सूत्रानुविद्ध श्लोक हैं जिन्हें 'सूत्रानुविद्धे आर्ये भवत:' कहकर उद्‌धृत किया गया है। (घ) प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों को उद्‌धृत करने वाले श्लोक हैं, जिनसे पूर्व 'भवन्ति चात्र श्लोका:' 'अत्रार्ये भवत:' पदों का प्रयोग हुआ है।

भावप्रकाशनकार शारदातनय के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो रूप थे- एक रूप 'द्वादशसाहस्त्री संहिता' 12000 श्लोकों का था और दूसरा 'षटसाहस्त्री संहिता' 6000 श्लोकों का था । (रसार्णवसुधाकर 1/50-52)। पहले भी कहा जा चुका है कि शारदातनय के कथनानुसार द्वादश साहस्री संहिता के रचयिता वृद्ध भरत या आदि भरत थे तथा षट् साहस्त्री संहिता को विषय की सुगमता के लिए भरत ने रचा। ''कुछ समालोचकों का विचार है कि नाट्यशास्त्र के प्रथम प्रणेता आदि भरत रहे होंगे। उन्होंने नाट्यशास्त्र की रचना सूत्र रूप में की होगी। इस सूत्रात्मक रचना के अनेक भाष्य होकर उसका रूप विस्तृत हो गया होगा। भरत ने इस सब सामग्री को संकलित करके वर्तमान रूप में उपलब्ध 'नाट्यशास्त्र' की रचना की होगी। यही कारण है कि वर्तमान समय में उपलब्ध नाट्यशास्त्र में सूत्रात्मक सामग्री यत्र तत्र बिखरी हुई है।''

नाट्यशास्त्र का विस्तार होगा- यह चर्चा स्वयं भरत ने की थी कि इस ग्रन्थ का विस्तार कोहल करेंगे। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही भरत के सौ शिष्यों के नाम गिनाए गए हैं, अत: बहुत सम्भव है कि नाट्यशास्त्र के विकास में भरत शिष्यों का ही योगदान रहा हो। कोहल नामक आचार्य का उल्लेख तो अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। दामोदर ने अपने 'कुट्टनीमतम्' (श्लोक 81) में प्राचीन नाट्याचार्यों को गिनाते हुए भरत के साथ कोहल का नाम भी गिना है। शार्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' की रचना में कोहल को अपना आधार माना है (संगीत रत्नाकार 115)। काव्यानुशासन में हेमचन्द्र ने नाटक के भेदों के कथन के समय कोहल को भी प्रमाण माना है। शिंगभूपाल ने तो रसार्णवसुधाकर (1/50...52) में कोहल को नाट्यकर्ता कहा है तथा भरत के साथ दत्तिल, मतंग और शाण्डिल्य का नाम भी लिया है। 'अभिनव भारती' टीका में अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर कोहल को उद्‌धृत किया है।

विषयवस्तु- नाट्यशास्त्र के विशाल कलेवर में काव्यों-नाट्यों की रचना और सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है, जिसका सम्पूर्ण विवरण दे सकना इस पुस्तक में सम्भव नहीं है। वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र में लगभग छह हजार श्लोक हैं। ये श्लोक अधिकांशतः अनुष्टुप छन्द में हैं। नाट्यशास्त्र के अध्याय क्रम से विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

पहला अध्याय- इसमें नाट्य की उत्पत्ति, ब्रह्मा द्वारा चारों वेदों से सामग्री लेकर पंचम नाट्यवेद की रचना, ब्रह्मा द्वारा उसका भरत को उपदेश, नाट्याभिनय, नाट्य में असुरों द्वारा विघ्न, नाट्य के महत्त्व और स्वरूप का कथन है।

दूसरा अध्याय- इस अध्याय में विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र प्रेक्षागृहों की माप और उनके निर्माण का सांगोपांग विधान दिया गया है।

तीसरा अध्याय- पूर्वरंग के अन्तर्गत समाविष्ट रंगदैवत पूजन का विवरण इस अध्याय में है। महादेव, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति तथा ग्रहों की पूजा और उनसे वरदान प्राप्ति का भी वर्णन किया गया है। तत्कालीन भारतीय समाज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से यह अध्याय महत्वपूर्ण है।

चौथा अध्याय- इस अध्याय में देवताओं के सम्मुख 'अमृतमन्थन' नामक समवकार नाट्य और शिव के सम्मुख त्रिपुरदाह नामक डिम नाट्य के अभिनय की कथा तथा ताण्डव नृत्य के उद्‌भव का वर्णन है। संगीत और नाट्य के नृत्य नामक अंग का निरूपण इस अध्याय में विस्तृत रूप से हुआ है, क्योंकि इसमें 108 करणों, 32 अंगहारों, और 4 रेचकों के साथ अन्य बहुत से नृत्यसम्बन्धी विषयों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

पांचवां अध्याय- नाट्य के आरंभ में किए जाने वाले नान्दी एवं प्रस्तावना के लक्षण एवं स्वरूप के विस्तृत कथन के साथ इस अध्याय में पूर्वरंग का पूर्ण निरूपण हुआ है।

छठा अध्याय- मुनियों के द्वारा पूछे गए रसविषयक पांच प्रश्नों के उत्तर में भरत ने इस अध्याय में विभिन्न भावों और रसों की विस्तृत विवेचना की है। प्रसिद्ध रससूत्र ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'' इसी अध्याय में है।

सातवां अध्याय- इसमें भावों, विभावों, अनुभावों, सात्विक भावों तथा व्यभिचारि भावों आदि के लक्षणों और स्वरूप का अत्यन्त विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण किया गया है।

नाट्यशास्त्र का छठा एवं सातवां अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये दोनों अध्याय गद्य और पद्य की मिश्रित शैली में लिखे गए हैं। परवर्ती आचार्यों का

रसविषयक विवेचन अधिकांशतः इन्हीं दोनों अध्यायों पर आश्रित रहा है।

आठवें से सोलहवां अध्याय- इन नौ अध्यायों में अंगाभिनय, उपांगाभिनय, चारीविधान, मण्डल, गति, कक्ष्या प्रवृत्तिधर्मी, प्रवृत्तियों, वाचिक अभिनय, छन्दोविभाग, वृत्तलक्षण एवं उदाहरण तथा भाषाओं के लक्षणों का विधान है।

सत्रहवां अध्याय- इस अध्याय में काव्य तथा कविता के 36 लक्षणों का निरूपण है। इसी अध्याय में विशेषतः उपमा, उपमा भेद, रूपक, दीपक, यमक, यमक भेद- इन अलंकारों का वर्णन है। इसी अध्याय में काव्य के दस दोषों का भी निरूपण हुआ है।

अठारहवां अध्याय- इस अध्याय का नाम दशरूपविधान है। नाम के अनुसार ही इसमें रूपक के दस भेदों का सविस्तार वर्णन हुआ है।

उन्नीसवां अध्याय- इस अध्याय में मुख्यतः कथावस्तु के प्रकारों और भेदों, पांच अर्थप्रकृतियों, पांच अवस्थाओं और पंचसन्धियों का सांगोपांग निरूपण है।

परवर्ती नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने इन दोनों अठारहवें और उन्नीसवें अध्याय को ही अधिकांशतः अपने अपने ग्रन्थों का आधार बनाया है।

बीसवां अध्याय- भारती, सात्त्वती, कौशिकी एवं आरभटी- इन चारों वृत्तियों का इस अध्याय में भेदसहित सविस्तार वर्णन है, तथा किस रस में कौन सी वृत्ति का उपयोग है, यह भी निर्देशित है।

इक्कीसवां अध्याय- इस अध्याय में आहार्य अभिनय का विवेचन है। इसमें आहार्य अभिनय का स्वरूप, नेपथ्य, वेशभूषा के उपाय तथा नेपथ्य के विविध प्रकार बताए गए हैं।

बाईसवां अध्याय- इस अध्याय में सामान्य अभिनय के अन्तर्गत विविध विषयों का निरूपण है। स्त्रियों के भाव-हाव-हेला आदि अलंकार, शोभा-कान्ति आदि पौरुष अलंकार, काम की अभिलाषा आदि दस अवस्थाएं, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता आदि अष्टविध नायिकाएं आदि इस अध्याय में वर्णित हैं।

तेईसवां अध्याय- इस अध्याय का विषय अभिनय में बाह्य उपचार है जिनमें वैशिक के लक्षण तथा गुण, नारी की त्रिविध प्रकृति, पंचविध पुरुष आदि विषयों का वर्णन है।

चौबीसवां अध्याय- नाट्य में अभिनय करने वाले विविध प्रकृति के स्त्री पुरुषों के स्वभाव का वर्णन है।

पच्चीसवां अध्याय- इस अध्याय में चित्राभिनय का सविस्तार वर्णन है।

छब्बीसवां अध्याय- यह विकृति विकल्प नामक अध्याय है।

सत्ताईसवां अध्याय- इस अध्याय का नाम है सिद्धि व्यंजन। प्रारंभ में सिद्धि का लक्षण वर्णित है। तत्पश्चात् दशांग मानुषी सिद्धि एवं द्विविध दैवी सिद्धि का सविस्तार वर्णन है। इसके पश्चात घात और उसके प्रकारों का निरूपण हुआ है।

अठाईसवें अध्याय से चौंतीसवें अध्याय तक- इन सात अध्यायों में संगीत से सम्बद्ध विषयों का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। चार प्रकार के वाद्यों, सात प्रकार के स्वरों तथा उनके ग्राम, श्रुति आदि का अत्यन्त प्रौढ़ प्रतिपादन हुआ है।

पैंतीसवां अध्याय- भूमिका विकल्प नामक इस अध्याय में नाट्य के विविध पात्रों की भूमिकाओं की विशद रूप में विवेचना प्रस्तुत हुई है।

छत्तीसवां अध्याय- इस अध्याय का नाम नाट्यशाप है। मुनियों के पूछने पर भरत मुनि पूर्वरंग के महत्त्वपूर्ण तत्त्व की विवेचना करते हैं। साथ ही मुनियों का उपहास करने वाले नाट्य को देखकर नटों को शूद्रत्व का शाप देते हैं। इसी क्रम में पृथिवी तल पर नाट्य के संचार का भी वर्णन है।

आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र का यही संक्षिप्त विषय-विवरण है।

नाट्यशास्त्र का महत्व

- अद्यावधि उपलब्ध सबसे प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ;
- प्रमुख लक्ष्य नाट्यशास्त्रीय प्रतिपादन है, किन्तु रस, गुण, रीति, अलंकार आदि अन्य तत्त्वों का भी सर्वांगीण विवेचन;
- रससूत्र में सर्वप्रथम रस को प्रमुख तत्त्व की मान्यता;
- ललित कलाओं की समीक्षा का सर्वमान्य आकर ग्रन्थ;
- नाट्यशास्त्र के आधार पर ही परवर्ती परम्परा के अधिकांश ग्रन्थ रचित;

नाट्यशास्त्र की टीकाएं

नाट्यशास्त्र जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर निश्चित ही अनेक टीकाएं लिखी गई होगी; कुछ टीकाकारों के नाम भी अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं। वर्तमान समय पर **अभिनवगुप्त** रचित 'अभिनवभारती' नामक एक ही टीका प्राप्त होती है जिसे लेखक ने 'नाट्यवेदविवृति' नाम भी दिया था। अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भरत के रससूत्र की व्याख्या के चार टीकाकारों- **लोल्लट, उद्भट, शंकुक और भट्टनायक**- का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में **राहुल, भट्टयन्त्र और हर्षवार्तिक** के नाम भी टीकाकारों के रूप में लिए हैं। 'संगीतरत्नाकर' में एक और टीकाकार **कीर्तिधर** का नामोल्लेख है। इसके अतिरिक्त एक नाम **मातृगुप्त** और मिलता है जिसे मिलाकर नाट्यशास्त्र-टीकाकारों के कुल दस नाम प्राप्त होते हैं।

किन्तु इन दस नामों में से केवल एक ही टीकाकर अभिनवगुप्त की टीका प्राप्त है किन्तु यह टीका भी कुछ अध्यायों और कुछ स्थलों पर प्राप्त नहीं है, साथ ही अशुद्ध पाठों के कारण दुरूह भी हो गई है। अन्य टीकाकारों के सम्बन्ध में भी यह ज्ञात नहीं है कि उन लोगों ने पूरे नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी अथवा उसके किसी एक भाग पर। उल्लेख करने वाले आचार्यों ने केवल कुछ स्थलों पर उनका मत उद्धृत किया है।

मेधाविन्

भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर के ग्रन्थों में मेधावी अथवा मेधाविरुद्ध नाम के एक अलंकारशास्त्रीय आचार्य का उल्लेख हुआ है किन्तु उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। उपमा दोषों के विवेचन में तथा कुछ अलंकारों की व्याख्या में परवर्ती लेखकों ने इनका पुनः पुनः उल्लेख किया है।

भामह

इनके समय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है, फिर भी इनका समय 5वीं 6ठी शती ईस्वी के मध्य माना जाता है। वर्तमान समय तक भामह का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकार' ही प्राप्त हो सका है। किन्तु साहित्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों से यह विदित होता है कि भामह ने छन्दशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध कुछ और ग्रन्थ भी लिखे अवश्य थे; जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

भामह का 'काव्यालंकार' छह परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें लगभग 400 श्लोक हैं-

प्रथम परिच्छेद- इसमें 60 श्लोक है जिसमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का कथन है।

द्वितीय परिच्छेद तथा तृतीय परिच्छेद- इन दोनों में कुल मिलाकर 160 श्लोक हैं। द्वितीय परिच्छेद में पहले काव्य गुणों का वर्णन हैं और फिर अलंकार वर्णित हैं जो तृतीय परिच्छेद के अन्त तक है।

चतुर्थ परिच्छेद- इस परिच्छेद के 50 श्लोकों में काव्य के दोषों का कथन किया गया है।

पंचम परिच्छेद- इसके 70 श्लोकों में न्याय निर्णय का प्रतिपादन हुआ है।

षष्ठ परिच्छेद- इस परिच्छेद के 60 श्लोकों में शब्दशुद्धि का विवेचन किया गया है।

डॉ. कृष्णकुमार ने 'काव्यालंकार' में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इस प्रकार

लिखा है

"**(1) काव्यशरीर**- इस अंश के लिए 60 श्लोक है। इनमें काव्य के उद्देश्य, लक्षण आदि का विवेचन किया गया है।

(2) अलंकार- इनका प्रतिपादन 160 श्लोकों में है। इनमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इस प्रकरण में कुछ ऐसे ग्रन्थकारों के नाम भी उद्धृत हैं, जिनके विषय में अभी तक कुछ भी नहीं जाना जा सका है।

(3) दोष-भामह ने पचास श्लोकों मे दोषों की विवेचना की है।

(4) न्याय- 70 श्लोकों द्वारा न्याय से सम्बन्धित प्रमाण आदि के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। यद्यपि इनका काव्य की रचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तथापि काव्य के दोषों के निवारण के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है।

(5) शब्दशुद्धि- इस प्रसंग में भामह ने भाषा की व्याकरणगत शुद्धता पर बल दिया है। इसके लिए 60 श्लोक हैं।"

काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह के 'काव्यालंकार' का बहुत महत्व है-

- इस ग्रन्थ को काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ कहा जा सकता है। आचार्य विश्वेश्वर ने इस सम्बन्ध में लिखा है- "इसके पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र के नवें अध्याय में गौण रूप से काव्य के गुण, दोष, अलंकार आदि के लक्षण किए गए थे, किन्तु वे सब नाट्यशास्त्र के अंगरूप ही थे। स्वतन्त्र रूप में अलंकार शास्त्र को एक अलग शास्त्र का रूप प्रदान करने वाला भामह का काव्यालंकार ग्रन्थ ही है।" भामह के ग्रन्थ में काव्य के सभी अंगों पर विचार किया गया है।
- भामह ने ही सर्वप्रथम काव्य शरीर के स्वरूप का निर्धारण किया और स्पष्ट कहा कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य होते हैं- **"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"**। परवर्ती अलंकारशास्त्री अधिकांश आचार्यों ने भामह के इस सिद्धान्त को ग्रहण किया।
- आचार्य भरत ने काव्य के दस गुणों का कथन किया था, किन्तु भामह ने उन दसों गुणों का अन्तर्भाव तीन गुणों- माधुर्य, ओज तथा प्रसाद- में कर दिया। परवर्ती दण्डी एवं वामन का इस विषय में भामह से मतभेद रहा, किन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने भामह के तीन गुणों को ही स्वीकार किया। यद्यपि उनकी परिभाषा भामह से भिन्न रही।
- 'काव्यालंकार' में भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का प्राणभूत माना। उन्होंने स्पष्ट कहा कि वक्रोक्ति के बिना अलंकार नहीं हो सकता.....'

....कोऽलंकारोऽनया विना।'' परवर्ती आचार्य कुन्तक ने भामह के कथन को तनिक परिवर्तित करके वक्रोक्ति को काव्य का ही आत्मतत्त्व घोषित किया और वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार वक्रोक्ति के प्रथम प्रतिपादक आचार्य भामह ही हुए।

- आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों- उपमा, रूपक, दीपक, यमक- का ही कथन किया था। किन्तु भामह ने और अनेक अलंकारों की उद्‌भावना करके कुल अड़तीस अलंकारों का भेदोपभेद सहित विस्तृत विवेचन किया। काव्यालंकार के द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद में निम्नलिखित अलंकारों का निरूपण किया गया है-

अनुप्रास (दो भेद), यमक (पांच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा (सात दोषों सहित), प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप (दो भेद), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, यथासंख्य, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्योगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति,निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः।

- भामह ने द्वितीय परिच्छेद में काव्यगुणों का विवेचन किया और रीति को अधिक महत्व न देते हुए गुणों का ही अधिक आग्रह किया।
- चतुर्थ परिच्छेद में भामह ने काव्य के दशविध दोषों का सुन्दर, विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। साथ ही अलंकारों के दोषों का भी कथन किया।

काव्यालंकार की टीकाएं- भामह के ग्रन्थ पर कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है। नवम शती ईस्वी में कश्मीर के राजा जयादित्य की राजसभा के पण्डित उद्‌भट ने इस ग्रन्थ पर 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी थी। इसका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में तो प्राप्त होता है किन्तु दुर्भाग्य से उद्‌भट की यह टीका भी अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

दण्डी

अलंकार शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ रचना करने वाले आचार्यों में भामह के पश्चात दण्डी हैं। आचार्य दण्डी ने भी अपने समय के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा अतः दण्डी के समय निर्धारण में बाह्य प्रमाण ही सहायक है। विभिन्न ग्रन्थों में दण्डी के उल्लेख तथा दण्डी के ग्रन्थों में अन्य लेखकों के उल्लेख के आधार पर

विद्वानों के द्वारा दण्डी का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध तथा आठवीं शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया गया है।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में दण्डी विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये केवल शास्त्रीय आचार्य ही नहीं, अपितु एक प्रसिद्ध कवि भी रहे। इनके लिखे तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं- अवन्ति सुन्दरी कथा, दशकुमार चरित तथा काव्यादर्श। इन तीनों में से 'काव्यादर्श' ही अलंकार शास्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ है।

दण्डी के काव्यादर्श ने अलंकारग्रन्थ के रूप में अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। अब तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। काव्यादर्श में श्लोक संख्या लगभग साढ़े छह सौ है। सामान्यत: काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं किन्तु किसी किसी संस्करण में तृतीय परिच्छेद को दो भागों में विभक्त करके चार परिच्छेद बना दिए गए हैं। परिच्छेद क्रम से काव्यादर्श के विषय इस प्रकार हैं-

प्रथम परिच्छेद- इसमें मंगलाचरण के अनन्तर सर्वप्रथम काव्य का लक्षण देकर उसके तीन भेदों- गद्य, पद्य तथा मिश्र का कथन किया गया है। तदनन्तर सर्गबन्ध महाकाव्य का लक्षण दिया गया है। आचार्य भामह ने गद्यकाव्य के दो भेद किए थे- कथा तथा आख्यायिका। दण्डी ने इन भेदों का निरूपण करके भी उनका खण्डन कर दिया कि कथा और आख्यायिका में कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसके पश्चात् भाषा के आधार पर साहित्य के चार भेद किए गए हैं- संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र। तदनन्तर काव्य के दस गुणों के लिए 'वैदर्भ' तथा 'गौड'- इन दो मार्गों का कथन किया गया है। इसी प्रसंग में अनुप्रास का लक्षण तथा उदाहरण दिए गए हैं। परिच्छेद के अन्त में कवित्व के तीन साधनों- 1. प्रतिभा, 2. श्रुत अथवा पठन, 3. अभियोग अथवा अभ्यास का कथन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद- इस परिच्छेद में अलंकार का सामान्य लक्षण करने के पश्चात् 35 अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। ये अलंकार निम्नलिखित हैं-

स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (लव), यथासंख्य (क्रम) प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजोक्ति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी, संकीर्ण (संसृष्ट), भाविक।

तृतीय परिच्छेद- इस परिच्छेद के प्रारंभ में यमक अलंकार का अत्यधिक विस्तृत (77 श्लोकों में) वर्णन है। इसके पश्चात् 18 श्लोकों में गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि चित्रबन्ध अलंकारों के लक्षण और

उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। तदनन्तर 29 श्लोकों में प्रहेलिका के भेदों की विवेचना करके दस प्रकार के काव्यदोषों का वर्णन 63 श्लोकों में किया गया है।

'काव्यादर्श' अपनी सरल और सारगर्भित शैली के कारण पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। इस ग्रन्थ में अलंकारों और गुणों का विशद विवेचन हुआ है। दण्डी अलंकारवादी आचार्य थे, किन्तु उन्होंने गुणों के आधार पर वैदर्भ और गौड़ मार्गों का भी वर्णन किया। इस आधार पर डा. पी.वी. काणे, डॉ. बलदेव उपाध्याय आदि ने दण्डी को रीति सम्प्रदाय का भी अंशत: समर्थक अथवा मार्गदर्शक माना। किन्तु दण्डी ने स्वयं ही रीति शब्द का तो प्रयोग भी नहीं किया। वैदर्भ तथा गौड के लिए उन्होंने मार्ग अथवा वर्त्म शब्द का प्रयोग किया है। अत: दण्डी को अलंकारवादी आचार्य मानना ही समीचीन है।

आचार्य दण्डी काव्य में रस की स्थिति को अनिवार्य मान कर भी उसे काव्य में प्रमुख नहीं मानते थे। उन्होंने रस को रसवद् अलंकार में परिगणित किया। दण्डी ने गुणों को भी अलंकार रूप ही माना। इस प्रकार काव्य के अन्य तत्त्वों को स्वीकार करते हुए भी दण्डी ने अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व माना था।

अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता होने के साथ-साथ आचार्य दण्डी एक उच्च कोटि के कवि भी थे। दण्डी का पदलालित्य प्रसिद्ध है- **'दण्डिनः पदलालित्यम्'।** काव्यादर्श में जितने भी उदाहरणात्मक श्लोक हैं उनमें से अधिकांश दण्डी के स्वरचित हैं और उन पदों में सर्वत्र लालित्य स्पष्ट है।

काव्यादर्श के टीकाकार- 'काव्यादर्श ग्रन्थ ने भामह के काव्यालंकार' की अपेक्षा अधिक प्रशंसा तथा लोकप्रियता अर्जित की। दण्डी के ग्रन्थ के ऊपर टीकाएं भी अनेक लिखी गई। इन टीकाओं में प्रमुख टीकाएं निम्नलिखित हैं-

1. तरुण वाचस्पति (तेरहवीं शती का पूर्वार्द्ध) द्वारा लिखित टीका जिसे सम्पादित करके रंगाचार्य ने मद्रास से प्रकाशित किया।
2. केशव भट्टारक (तरुण वाचस्पति के पुत्र) द्वारा लिखित **तात्पर्यनिर्णय** नामक टीका।
3. काव्यादर्श के केवल दो परिच्छेदों पर अज्ञात लेखक द्वारा लिखित **हृदयंगमा** टीका- इसे भी रंगाचार्य ने मद्रास से प्रकाशित किया।
4. महामहोपाध्याय हरिनाथ कृत **मार्जन** नामक टीका।
5. गोपालपुर (बंगाल) निवासी कृष्णकिंकर तर्कवागीश द्वारा रचित **'काव्यतत्त्वविवेचिनी कौमुदी'** नामक टीका।
6. वादिंघल रचित **'श्रुतानुपालिनी'** टीका।

7. जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ विरचित '**वैमल्यविधायिनी**' टीका।
8. लंकानिवासी रत्नश्रीज्ञान लिखित '**रत्नश्री**' टीका।

भट्ट उद्भट

दण्डी के पश्चात् काव्य शास्त्र पर महत्वपूर्ण कार्य करने वाले आचार्य भट्ट उद्भट है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने आचार्य उद्भट और उनके अलंकारशास्त्रीय मतों का बहुत आदर के साथ उल्लेख किया है। अनेक आचार्यों ने उद्भट के मत का विरोध भी किया किन्तु सम्मान के साथ। भट्ट उद्भट काश्मीरी थे, और अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय 800 ईस्वी के लगभग निर्धारित किया गया है।

उद्भट ने भी तीन ग्रन्थों की रचना की थी। भामह के काव्यालंकार की टीका के रूप में लिखा गया **भामह विवरण** अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है। एक अन्य ग्रन्थ **कुमारसम्भव काव्य** भी उपलब्ध नहीं है किन्तु इनके तीसरे ग्रन्थ '**काव्यालंकारसारसंग्रह**' में जितने भी उदाहरण दिए गए हैं, वे सब उद्भट रचित कुमारसम्भव काव्य के ही है। प्राचीन ग्रन्थों से यह भी संकेत मिलता है कि उद्भट ने भरत के नाट्यशास्त्र पर भी टीका लिखी थी किन्तु वह भी अनुपलब्ध है।

भट्ट उद्भट का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ '**काव्यालंकारसारसंग्रह**' है। इस ग्रन्थ में भी अलंकारों का ही विवेचन है, किन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढंग पर किया गया है। यह ग्रन्थ छह वर्गों में विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर 79 कारिकाएं है तथा उनमें 41 अलंकारों के लक्षण आदि दिए गए हैं।

प्रथम वर्ग– 1. पुनरुक्तवदाभास, 2. छेकानुप्रास, 3. त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), 4. लाटानुप्रास, 5. रूपक, 6. उपमा, 7. त्रिविध दीपक (आदिदीपक, मध्य दीपक, अन्तदीपक), 8. प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग– 1. आक्षेप, 2. अर्थान्तरन्यास, 3. व्यतिरेक, 4. विभावना, 5. समासोक्ति, 6. अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग– 1. यथासंख्य, 2. उत्प्रेक्षा, 3. समासोक्ति।

चतुर्थ वर्ग– 1. प्रेय, 2. रसवत्, 3. ऊर्जस्विन्, 4. पर्यायोक्त, 5. समाहित, 6. उदात्त (दो प्रकार), 7. श्लिष्ट (दो प्रकार)

पंचम् वर्ग– 1. अपह्नुति, 2. विशेषोक्ति, 3. विरोध, 4. तुल्ययोगिता, 5. अप्रस्तुत प्रशंसा, 6. व्याजस्तुति, 7. निदर्शना, 8. उपमेयोपमा, 9. सहोक्ति, 10. संकर (चार प्रकार), 11. परिवृत्ति।

षष्ठ वग– 1. अनन्वय, 2. ससन्देह, 3. संसृष्टि, 4. भाविक, 5. काव्यलिंग, 6. दृष्टान्त।

इन सारे अलंकारों के उदाहरण के रूप में उद्भट ने लगभग 100 श्लोक अपने 'कुमारसम्भव' काव्य से उद्धृत किए हैं। यहां यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि इन अलंकारों के क्रम और विवेचन पर भामह का बहुत स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। किन्तु उद्भट ने भामह का सम्पूर्ण एवं सर्वथा अनुकरण किया हो- यह भी सही नहीं है। उन्होंने भामह प्रतिपादित अनेक अलंकारों को सर्वथा छोड़ दिया; कुछ ऐसे नए अलंकारों का प्रतिपादन किया जो भामह ने नहीं निर्देशित किए थे तथा भामह की अपेक्षा अनुप्रास और रूपक के अधिक भेदों का कथन किया।

आचार्य भट्ट उद्भट का ग्रन्थ आकार में छोटा है जिसमें मात्र 79 कारिकाएं हैं; किन्तु अलंकार शास्त्र एवं समालोचना के क्षेत्र में यह ग्रन्थ अपने महनीय सिद्धान्तों के कारण अत्यधिक समादृत रहा। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

- अर्थ के भेद से शब्द भेद की कल्पना- **''अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इतिभट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः।''**
- श्लेष के दो भेद- शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष- मान कर भी दोनों को अर्थालंकारों में परिगणित करना।
- श्लेष अलंकार की प्रधानता प्रतिपादित करते हुए अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की ही प्रबलता तथा अन्य अलंकारों की अप्रधानता मानना।
- वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार।
- व्याकरण के आधार पर उपमा अलंकार के भेदों का विशद निरूपण।
- काव्य गुणों को संघटना का धर्म मानना।
- अर्थ की द्विविध कल्पना-
  1. विचारित सुस्थ- यह अर्थ शास्त्रों में रहता है।
  2. अविचारित रमणीय- यह अर्थ काव्यों में रहता है।

आचार्य बलदेव का कहना है कि ''भामह'' का मूलग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध ही था और इसीलिए उद्भट का ग्रन्थ ही अलंकार सम्प्रदाय का प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ तथ आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार- उद्भट के ग्रन्थ पर दो टीकाएं उपलब्ध होती हैं-

1. प्राचीनतम टीका के रचयिता प्रतिहारेन्दुराज थे। ये कोंकण देश के निवासी थे तथा 'अभिधावृत्तिमातृका' के निर्माता मुकुल भट्ट के शिष्य थे। इनका समय दशम शती ईस्वी है, तथा 'काव्यालंकारसारसंग्रह' पर उन्होंने **'लघुविवृत्ति'** नामक टीका लिखी। यह टीका संक्षिप्त तथा सुस्पष्ट है।

2. काव्यालंकारसारसंग्रह पर दूसरी टीका राजानक तिलक ने लिखी तथा इसका नाम **उद्‌भटविवेक** अथवा **उद्‌भट विचार** था। 1931 में बड़ौदा से 'विवृत्ति' नाम से एक टीका प्रकाशित हुई जिसे राजानक तिलक की टीका ही माना गया है।

वामन

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य वामन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने साहित्य शास्त्र में एक नवीन सम्प्रदाय- **रीति सम्प्रदाय**- की स्थापना की थी और रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया- **''रीतिरात्मा काव्यस्य।''**

आचार्य वामन काश्मीर के राजा जयादित्य (779 से 813 ईस्वी) के मन्त्री थे। आनन्द वर्धन (850 ई.) एवं राजशेखर (900 ई. लगभग) ने वामन के रीतिसिद्धान्त का उल्लेख किया है और वामन ने भवभूति (आठवीं शती पूर्वार्ध) का एक पद्य उदाहरण रूप में दिया है, अतः वामन का समय इन दोनों का मध्यवर्ती 800 ईस्वी माना जा सकता है।

आचार्य वामन का एकमात्र ग्रन्थ '**काव्यालंकार सूत्र**' है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्रशैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं- सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण। सूत्रों में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त हैं; सूत्रों की व्याख्या के लिए वामन ने स्वयं ही 'कविप्रिया' नामक वृत्ति लिखी है तथा वृत्ति में ही उदाहरण भी संकलित हैं। इन उदाहरणों में कुछ तो वामन के स्वरचित पद्य है तथा अन्य अधिकांश उदाहरण अन्य कवियों की रचनाओं से संग्रहीत किए गए हैं।

सूत्रशैली में लिखा गया वामन का ग्रन्थ बहुत विस्तृत भी है और व्यापक भी। यह पांच अधिकरणों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अधिकरण कुछ अध्यायों में विभक्त है और पांच अधिकरणों में कुल बारह अध्याय हैं। इनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम अधिकरण- इस अधिकरण का नाम '**शरीराधिकरण**' है। इसमें तीन अध्याय हैं। इसमें काव्य की परिभाषा, प्रयोजन, काव्य का अधिकारी आदि का वर्णन करके रीति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया गया है- 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। फिर रीति के तीन भेद, तथा काव्य के हेतु और प्रकारों का कथन है।

द्वितीय अधिकरण- इसका नाम '**दोषदर्शनाधिकरण**' है तथा इसमें दो अध्याय हैं। इन अध्यायों में काव्य के पद, वाक्य और वाक्यार्थ के दोषों का निरूपण किया गया है।

तृतीय अधिकरण- इसका नाम '**गुणविवेचनाधिकरण**' है। इसमें दो अध्याय

हैं जिनमें पहले गुण तथा अलंकारों का भेद स्पष्ट किया गया है- **'काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा:'''तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा: ।''** इसके पश्र्चात् दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों का स्वरूप सोदाहरण विवेचित है।

चतुर्थ अधिकरण- इसका नाम '**आलंकारिकाधिकरण**' है तथा इसमें तीन अध्याय है। नाम के अनुरूप ही इस अधिकरण में अलंकारों का विस्तृत निरूपण है।

पंचम अधिकरण- इसका नाम '**प्रायोगिकाधिकरण**' है तथा इसमें दो अध्याय हैं। वामन ने इस अधिकरण में कवि परम्पराओं का विवेचन किया है तथा शब्दों की शुद्धि पर विशेष विचार किया है।

जैसा कहा जा चुका है कि आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे। परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने भले ही रीति सम्प्रदाय तथा वामन की कठोर आलोचना की, तथापि वामन और उनके ग्रन्थ का बहुत अधिक महत्व है। जैसा उनके ग्रन्थ के विषय प्रतिपादन में लिखा जा चुका है, वामन ने काव्य के सभी तत्त्वों और अंगों पर विचार किया था। आचार्य वामन के विचारों की कतिपय विशिष्टताएं इस प्रकार हैं-

- वामन से पूर्व भी आचार्यों ने रीति/ वर्त्म/मार्ग तत्त्व की विवेचना की थी, किन्तु वामन ने ही सव्रप्रथम रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया; विशिष्ट पदरचना को रीति कहा जाता है तथा पदरचना की यह विशिष्टता गुणों में होती है- '**रीतिरात्मा काव्यस्य; विशिष्टा पदरचना रीति;, विशेषो गुणात्मा।** (काव्यालंकार सूत्र 1/2/6...8.)
- वामन ने वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली- इन तीन रीतियों का कथन और लक्षण किया।
- वामन ने गुणों और अलंकारों को परस्पर भिन्न कहा तथा अलंकारों को गुणों की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रदान की।
- गुणों का विशेष विवेचन करके वामन ने दस गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर गुणों की संख्या बीस कर दी।
- वामन ने अलंकारों का लक्षण करने में भी अपना वैशिष्ट्य बनाए रखा। इन्होंने सारे ही अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच माना- '**प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंच: ।**'
- आचार्य वामन ने प्रतिपादित किया कि सादृश्य से उत्पन्न लक्षणा ही वक्रोक्ति है- 'सादृश्यालक्षणा वक्रोक्ति:'' आचार्य वामन ने इस तत्त्व का प्रतिपादन करके भी उसे अधिक महत्व नहीं दिया। अपने पूर्वाचार्यों के सदृश रस को रसवद् आदि अलंकारों में भी ग्रहण नहीं किया, अपितु रस की समन्विति

कान्ति नामक अर्थगुण में कर दी।

काव्यालंकारसूत्र की टीकाएं- इस ग्रन्थ पर कुछ ही टीकाएं प्राप्त होती है-

1. सहदेव कृत टीका।
2. गोपेन्द्र तिप्पभूपाल की '**कामधेनु**' टीका।

'इनके अतिरिक्त भी भट्टगोपाल, महेश्वर आदि ने भी इस पर टीकाएं लिखी थीं, ऐसी प्रसिद्धहै।

रुद्रट

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रुद्रट एक महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, तथापि भामह एवं दण्डी के समान इन्हें सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। मुख्य रूप से रुद्रट अलंकारवादी आचार्य थे। काव्य में रस की अनिवार्यता का प्रतिपादन करके भी रुद्रट ने काव्य सौन्दर्य के लिए अलंकारों को ही बहुत महत्व दिया।

रुद्रट के समय के सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं है। इन्होंने भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन आदि की उपेक्षा 31 अधिक अर्थालंकारों का सर्वप्रथम विवेचन किया, अत: ये वामन के पश्चात् ही होने चाहिए। राजशेखर (900 ईस्वी) ने अपने ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में रुद्रट के मत का उल्लेख किया है। अत: रुद्रट का समय वामन (800 ई.) के पश्चात् तथा राजशेखर (900 ईस्वी) से पूर्व होना चाहिए। इसीलिए विद्वानों ने रुद्रट का समय लगभग 850 ईस्वी निर्धारित किया है।

रुद्रट का केवल एक ही ग्रन्थ '**काव्यालंकार**' उपलब्ध होता है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें शब्दशक्तियों तथा गुणों का विवेचन नहीं है, अन्यथा यह सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आर्या छन्द में लिखे हुए कुल 734 पद्य हैं तथा यह 16 अध्यायों में विभक्त है। अध्याय क्रम में विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय- काव्य प्रयोजन; काव्य रचना के तीन हेतुओं- शक्ति, व्युत्पत्ति, और अभ्यास; कवि महिमा का विवेचन और वर्णन।

द्वितीय अध्याय- काव्य लक्षण, वृत्ति के आधार पर पांचाली, लाटी, गौडी, वैदर्भी रीतियां; वाक्य तथा वाक्य भेद; वक्रोक्ति तथा अनुप्रास अलंकार।

तृतीय अध्याय- यमक अलंकार की विशद विवेचना।

चतुर्थ अध्याय- श्लेष अलंकार का विस्तृत निरूपण।

पंचम अध्याय- विभिन्न प्रकार के चक्रबन्धों का वर्णन।

षष्ठ अध्याय- पदगत तथा वाक्यगत दोष निरूपण।

सप्तम अध्याय- अर्थ लक्षण, वाचक शब्द भेद, अर्थालंकारों का चार वर्गों में

वर्गीकरण तथा वास्तव वर्ग में 23 अलंकारों का स्वरूप विवेचन।

अष्टम अध्याय- औपम्य वर्ग के 21 अलंकारों का वर्णन।

नवम् अध्याय- अतिशय वर्ग के 12 अलंकारों का निरूपण।

दशम अध्याय- अर्थ श्लेष के दस भेदों तथा 2 प्रकारों के संकर अलंकारों का वर्णन।

एकादश अध्याय- 9 प्रकार के अर्थदोषों तथा चार उपमादोषों का स्वरूप विवेचन।

द्वादश अध्याय- काव्य में रस की अनिवार्यता प्रतिपादन; 10 रसों की नाम गणना, श्रृंगार रस तथा नायक-नायिका भेद।

त्रयोदश अध्याय- सम्भोग शृंगार का स्वरूप; स्त्रियों की विविध दशाओं और चेष्टाओं का वर्णन।

चतुर्दश अध्याय- विप्रलम्भ शृंगार तथा उसके दो भेद; विप्रलम्भ की दस दशाएं।

पंचदश अध्याय- शृंगार को छोड़कर अन्य शेष रसों की विवेचना।

षोडश अध्याय- प्रबन्ध काव्य के मुख्य भेदों- महाकाव्य, महाकथा, आख्यायिका, लघु काव्य तथा अन्य भेद; काव्य वर्णन में निषिद्ध तत्त्वों की चर्चा।

इस विषय प्रतिपादन से स्पष्ट है कि रुद्रट का काव्यालंकार एक महनीय ग्रन्थ है। रुद्रट के वैशिष्ट्य को बिन्दुवार इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

- रुद्रट ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर अलंकारों का विभाजन करने का यत्न किया। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलंकारों का विभाजक तत्त्व माना और उसी आधार पर अलंकारों को चार भागों में विभक्त किया। यह रुद्रट द्वारा प्रस्तुत बिल्कुल नया दृष्टिकोण था।
- रुद्रट ने **मत, साम्य, चिह्नित** तथा **भाव** नामक बिल्कुल नए चार अलंकारों की कल्पना की। जिनका उल्लेख प्राचीन अथवा नवीन किन्हीं ग्रन्थों में नहीं मिलता।
- रुद्रट ने कुछ अलंकारों का नवीन रूप में नया नामकरण किया। भामह ने 'व्याजस्तुति' अलंकार को रुद्रट ने 'व्याजश्लेष' कहा। उद्भट के 'उदात्त' अलंकार को इन्होंने 'अवसर' का नाम दिया। दण्डी ने जिसे 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहा था, रुद्रट ने उसे 'जाति' अलंकार कहा।
- अलंकारों के वर्गीकरण में रुद्रट ने श्लेष अलंकार का एक अलग वर्ग बनाया था, जिसमें श्लेष के 10 भेदों का वर्णन किया। परवर्ती आलंकारियों ने इनमें

से कुछ श्लेष भेदों को स्वतन्त्र अलंकार रूप में स्थापित किया।

- रुद्रट ने रस की स्वतन्त्र रूप से विवेचना की। उन्होंने रस को रसवद् अलंकार में समाविष्ट नहीं किया; रस को काव्य का अनिवार्य तत्व माना, पहले से वर्णित नौ रसों की विवेचना की लेकिन साथही एक और रस 'प्रेयान्' का स्वरूप विवेचन करके रससंख्या दस कर दी।
- रुद्रट ने यद्यपि रीति को अधिक महत्व नहीं दिया तथापि पूर्वा कथित तीन रीतियों में पांचाली रीति और जोड़ कर रीति संख्या चार कर दी। साथ ही समास के आधार पर उनको दो भागों में बांटा- ससमासा रीति- लाटी, गौड़ी, पांचाली; असमासा रीति-वैदर्भी।
- रुद्रट के नायिका भेद निरूपण का परवर्ती ग्रन्थों पर बहुत प्रभाव पड़ा। विशेषत: दशरूपक में धनंजय तथा साहित्यदर्पण में विश्वनाथ नायिका भेद वर्णन में रुद्रट के ऋणी हैं।

काव्यालंकार की टीकाएं- रुद्रट के महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर अवश्य ही अनेक टीकाएं लिखी गई होंगी, लेकिन अद्यावधि तीन ही टीकाओं का उल्लेख प्राप्त हुआ है-

1. वल्लभदेव की **रुद्रटालंकार** नामक टीका। इसका उल्लेख तो वल्लभदेव ने स्वयं ही शिशुपालवध की टीका में किया है किन्तु वह टीका उपलब्ध नहीं है।
2. नमिसाधु की टीका। यह **उपबन्ध** टीका प्रसिद्ध है और प्रकाशित भी हो चुकी है।
3. आशाधर की टीका

आनन्दवर्धन

संस्कृत आलोचना किंवा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य आनन्दवर्धन "अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तकारी आचार्य है।" अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' के द्वारा काव्य में ध्वनितत्त्व की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन करके उन्होंने समस्त आचार्यों में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया। "आनन्दवर्धन ने अपने से प्राचीन समय की साहित्यिक मान्यताओं और आलोचना के सिद्धान्त को मोड़ देकर एक नया मार्ग प्रशस्त किया था। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन ठीक ही है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग व्यवस्थित और प्रतिष्ठित कर दिया था- **'ध्वनिकृतामालंकारिकसर-णिव्यवस्थापकत्वात्'** (रसगंगाधर)।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, इसके अतिरिक्त उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इनका समय निश्चित है। 'ध्वन्यालोक' में

उद्‌भट (लगभग 800 ई.) का उल्लेख है तथा राजशेखर (900 ईस्वी) ने इनकी प्रशंसा की है। आनन्दवर्धन कश्मीराज अवन्तिवर्मा (855 ईस्वी-883 ईस्वी) के सभापण्डित थे। इन प्रमाणों के आधार पर इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित किया गया है।

आनन्दवर्धन की चार रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इनमे दो ग्रन्थ अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सके हैं- देवी शतक, विषमबाणलीला तथा अर्जुन; ये तीनों ही काव्य हैं और इन तीन में केवल देवीशतक ही प्राप्त होता है। भगवती दुर्गा की आराधना के लिए आनन्दवर्धन ने इसकी रचना की थी। काव्य में ध्वनि तत्त्व को आत्मरूप प्रतिपादित करने वाले आनन्दवर्धन ने इस काव्य में चित्रबन्धों का बहुल प्रयोग किया और इसके लिए उनकी आलोचना भी हुई।

आनन्दवर्धन ने यदि केवल '**ध्वन्यालोक**' ग्रन्थ की ही रचना की होती, तो भी उनकी कीर्ति साहित्यक्षेत्र में अक्षुण्ण एवं सर्वोपरि बनी रहती। इस ग्रन्थ के स्पष्ट तीन भाग हैं- कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इस ग्रन्थ में चार उद्योत है तथा 126 कारिकाएं है। कुछ विद्वानों ने वृत्ति भाग का रचयिता तथा उदाहरणों का संग्रहकर्ता तो आनन्दवर्धन को माना है किन्तु कारिकाकर्ता कोई अन्य व्यक्ति कहा है। किन्तु अन्य प्रमाणों के अनुसार कारिकाकार तथा वृत्तिकार अभिन्न है तथा आनन्दवर्धन ही दोनों के रचयिता हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ का विषयप्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम उद्योत- इस उद्योत के प्रारम्भ में ध्वनिविरोधी तीन मतों का खण्डन किया गया है। अभाव वादी मत के अनुसार ध्वनि होती ही नहीं; भक्तिवादी मत में ध्वनि को गौण माना गया तथा अलक्षणीयतावादी मत के अनुसार ध्वनि अनिर्वचनीय तत्त्व है। अभिनवगुप्त ने इन तीन मतों का खण्डन करके ध्वनि की स्थापना की और उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया (ध्वन्यालोक 1/1)। उनके अनुसार "काव्य में वाच्य और प्रतीयमान दो प्रकार के अर्थ होते हैं। प्रतीयमान अर्थ सहृदयसंवेद्य एवं चारुत्व का हेतु है। जिस काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता होती है, वह ध्वनिकाव्य होता है।"

द्वितीय उद्योत- इस उद्योत में अविवक्षितवाच्य अर्थात्, लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूला ध्वनि के भेदोपभेदों का सविस्तार वर्णन है। रसध्वनि के प्रसंग में ही गुणों का विवेचन करके, अन्य सारे मतों का खण्डन करते हुए तीन ही गुण निर्धारित किए गए हैं- माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। आनन्दवर्धन ने अलंकार और गुणों का भेद भी स्पष्ट किया।

तृतीय उद्योत- इस उद्योत में व्यंजक के भेद से ध्वनि के भेदों का निरूपण है।

इसमें पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदि के द्वारा ध्वनि की प्रकाश्यमानता का प्रतिपादन किया गया है। संघटना की व्यंजकता भी सविस्तर वर्णित है। संघटना गुणों का आश्रय लेकर रसादि की अभिव्यंजना करती है। ध्वनिकार के अनुसार रसबन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है।

इसी उद्योत में आनन्दवर्धन ने 'रस' के अनुगुण वृत्तियों का विवेचन किया है। ये दो प्रकार की होती है- वाच्य के आश्रय में कैशिकी आदि वृत्तियां और वाचक के आश्रय से उपनागरिका आदि वृत्तियां। तीसरे उद्योत में गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य का निरूपण किया गया है। ध्वनिकार का स्पष्ट कथन है कि चित्रकाव्य काव्य की अनुकृति मात्र है, काव्य नहीं है।

चतुर्थ उद्योत- चौथे उद्योत में ध्वनिकार ने प्रतिभा की अनन्तता का कथन किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के प्रयोग के प्रभाव से कवि के काव्य में अनन्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। जैसे वसन्त ऋतु में पुराने वृक्षों में भी अनन्त सौन्दर्य छा जाता है, उसी प्रकार ध्वनि तथा रस के सम्बन्ध स पूर्व कवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थों में भी नवीन चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है।

ध्वन्यालोक की टीकाएं- ध्वन्यालोक जैसे महनीय ग्रन्थ पर निश्चय ही अनेक टीकाएं लिखी गई होगी। इसकी निम्नलिखित प्राचीन टीकाओं के लिखे जाने के उल्लेख तथा प्रमाण मिलते हैं।

1. चन्द्रिका टीका- यह टीका अनुपलब्ध है, किन्तु अभिनवगुप्त ने अपनी 'लोचन' टीका में अनेक स्थलों पर इस टीका का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों में प्रतीत होता है कि चन्द्रिका टीका के रचयिता अभिनव के ही कोई पूर्वज थे।

2. लोचन टीका- ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त के द्वारा लिखी गई **ध्वन्यालोक लोचन** टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ''काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक की लोचन टीका का वही महत्त्व है, जो 'पाणिनीय अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' का तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर 'शांकरभाष्य' का महत्त्व है। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वयं इस टीका को लोचन नाम दिया था और इसको ध्वन्यालोक के रहस्य का उन्मीलन करने वाला बताया था।''

राजशेखर

राजशेखर एक सफल नाटककार तथा काव्यशास्त्रीय आचार्य के रूप में समादृत हैं। इन्होंने चार नाट्यों की रचना की- बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका, तथा कर्पूरमंजरी। इनमें कर्पूरमंजरी प्राकृत भाषा में रचित है। कुछ विद्वान् इन्हें 'हरविलास' नामक महाकाव्य का भी रचयिता मानते हैं जिसका संकेत हेमचन्द्र के

'काव्यानुशासन' में मिलता है। किन्तु यह महाकाव्य अद्यावधि अनुपलब्ध है। इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ **'काव्यमीमांसा'** है।

इनके समय के सम्बन्ध में विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने इनका समय नवीं शती का उत्तरार्ध और दसवीं शती का पूर्वार्ध निर्धारित किया है।

काव्यमीमांसा ग्रन्थ के कारण राजशेखर को काव्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। यद्यपि इस ग्रन्थ में अलंकार, रस, गुण, दोष आदि आवश्यक काव्यतत्त्वों का विवेचन नहीं है तथापि कवि के लिए आवश्यक गुणों और सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ में सिद्धान्त भाग गद्य में है तथा उदाहरण तथा अन्तिम परिणाम पद्य में है। राजशेखर के ही अनुसार इस ग्रन्थ में मूलत: 18 अधिकरण थे, किन्तु अभी तक एक कविरहस्य नामक अधिकरण ही प्राप्त हो सका है, जो बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। इस अधिकरण में 18 अध्याय हैं, जिनका विषय प्रतिपादन संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय- शास्त्रसंग्रह- इसके अनुसार शिव ने ब्रह्मा को काव्योपदेश किया। ब्रह्मा की शिष्य परम्परा द्वारा इसके विचारों को अठारह शिष्यों ने अठारह भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में लिखा और यायावरवंशीय राजशेखर ने उन अठारह ग्रन्थों को संक्षेप में एक ही ग्रन्थ में अठारह अधिकरणों में दे दिया।

द्वितीय अध्याय- शास्त्रनिर्देश- इसमें काव्य और शास्त्र इन दो भागों में समस्त वाङ् मय को विभक्त करके शास्त्र को पुन: अपौरुषेय और पौरुषेय दो भागों में बांटा गया। अपौरुषेय भाग में 4 वेद, 4 उपवेद तथा 6 वेदांग हैं। राजशेखर के अनुसार अलंकार को सातवां वेदांग मानना चाहिए। पौरुषेय शास्त्र में पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा, 18 स्मृति तथा 14 या 18 विद्याएं समाविष्ट हैं।

तृतीय अध्याय- काव्यपुरुषोत्पत्ति- इसमें सरस्वती से काव्यपुरुष की उत्पत्ति वर्णित हैं। काव्य के अंग ही उस काव्य पुरुष के अंग थे, यथा शब्दार्थ उसका शरीर, संस्कृत उसका मुख, प्राकृत उसकी बाहु आदि आदि। काव्यपुरुष का विवाह साहित्यविद्या वधू के साथ वत्सगुल्म नगर में हुआ। विभिन्न देशों में काव्यपुरुष के भ्रमण करने से विभिन्न प्रवृत्तियों, वृत्तियों और रीतियों की उत्पत्ति हुई।

चतुर्थ अध्याय-शिष्यप्रतिभ- शिष्यों के भेद तथा गुण; शक्ति ही काव्य का हेतु; शक्ति से ही प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति का उद्भव; तीन प्रकार के कवि; भावकत्व तथा कवित्व की भिन्नता; भावक का लक्षण एवं भेद।

पंचम अध्याय- व्युत्पत्तिपरिपाक- व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा की व्याख्या, कवियों

के भेद तथा लक्षण, नौ प्रकार के काव्य।

षष्ठ अध्याय- पदवाक्यविवेक- पद तथा उसकी पांच वृत्तियों, दस प्रकार के वाक्यों की व्याख्या; काव्य का लक्षण- ''गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्।''

सप्तम अध्याय- वाक्यविषय:- काकुप्रकारा:, पदप्रतिष्ठा- वाक्यभेद, पांच प्रकार के वचनों की व्याख्या, वैदर्भी; पांचाली, गौडी रीतियां; प्रान्तीय विविध उच्चारण विधियां तथा भाषाएं।

अष्टम् अध्याय- काव्यार्थयोनय:-काव्यविषय ग्रहण किए जाने योग्य 16 आधार- श्रुति, स्मृति आदि।

नवम अध्याय- अर्थव्याप्ति- सात प्रकार के वर्ण्य विषयों (अर्थ) की सोदाहरण व्याख्या।

दशम अध्याय- कविचर्या राजचर्या च-

एकादश अध्याय- शब्दहरणोपाया:- कवियों के प्रकार। कवि के द्वारा पूर्ववर्ती कवियों के शब्दों को ग्रहण कर सकने की सीमा।

द्वादश अध्याय- अर्थहरणोपाया:- कवि के द्वारा पूर्ववर्ती कवियों के अर्थों और विचारों को ग्रहण करने के उपाय।

त्रयोदश अध्याय- अर्थग्रहणेष्वालेख्यप्रख्यादिभेदा:।

चतुर्दश अध्याय- कविसमय-

पंचदश अध्याय- गुणसमयस्थापना-

षोडश अध्याय- स्वर्ग्यपातालीयकविसमयस्थापना-

सप्तदश अध्याय- देशविभाग

अष्टादश अध्याय- काल विभाग

इन सारे विषयों को समेटे यह ग्रन्थ काव्यमीमांसा वस्तुत: अनेकविध ज्ञान का कोषरूप है। आचार्य विश्वेश्वरनाथ के अनुसार ''इस विषयसूची के देखने से विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलंकारग्रन्थों से एकदम विलक्षण ग्रन्थ है। यह कवि के लिए उपयोगी जानकारी देने वाला एक विश्वकोष सा प्रतीत होता है। इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र 'कविशिक्षासम्प्रदाय' के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। राजशेखर के बाद क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र तथा देवेश्वर आदि ने भी इसी प्रकार 'कविशिक्षा' के विषय में ग्रन्थों की रचना की है। इसलिए साहित्यशास्त्र, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय आदि प्रसिद्ध सम्प्रदायों से भिन्न यह 'कविशिक्षासम्प्रदाय' अलग ही माना जाना चाहिए।''

अभिनवगुप्त

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त एक महनीय तथा श्रद्धास्पद नाम हैं। ये काश्मीर ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पूर्व कन्नौज के निवासी थे। अपनी विभिन्न रचनाओं में अभिनवगुप्त ने अपने वंश और समय की पर्याप्त जानकारी दी है। इनका समय दसवीं शती के अन्त और ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध (960 ईस्वी से 1020 ईस्वी) तक सामान्यतः माना जाता है।

अभिनवगुप्त विद्याव्यसनी थे। उस समय जिस शास्त्र का जो विद्वान् विशेषज्ञ रूप में प्रसिद्ध था, अभिनव ने उसी विद्वान् से तत्तत् शास्त्र का अध्ययन किया। अपने सात गुरुओं का तो इन्होंने शास्त्र के साथ उल्लेख किया है। तेरह अन्य गुरुओं का उल्लेख उनके एक श्लोक में मिलता है। अभिनवगुप्त ने लगभग 41 ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिनमें कई ग्रन्थों के नाम प्राप्त हैं किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन सारे ग्रन्थों में केवल तीन ग्रन्थ–ध्वन्यालोकलोचन, अभिनवभारती, घटकर्पर विवरण– साहित्यशास्त्र से सम्बद्ध हैं। शेष ग्रन्थ शैवदर्शन से सम्बन्ध रखते हैं। 'घटकर्परविवरण' भी एक दूतकाव्य पर टीकारूप में लिखा गया है। मूलतः साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की प्रसिद्धि और महत्त्व के आधारस्तम्भ निम्नलिखित दो ग्रन्थ है–

अभिनवभारती– यह टीकाग्रन्थ आचार्य भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर लिखा गया था। अभिनवगुप्त ने इसको 'नाट्यवेदविवृत्ति' नाम भी दिया था। नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाओं का उल्लेख मिलने पर भी अद्यावधि यही एकमात्र टीका उपलब्ध है। दुर्भाग्य यह है कि यह टीका सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है, साथ ही अनेक स्थलों पर उपलब्ध पाठ खण्डित भी है और अन्य अनेक स्थलों पर असंगत और अशुद्ध भी।

यह टीका ''नाट्यशास्त्र'' के विषयों का सम्यक् प्रकार से उन्मीलन करती है तथा उसको समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस टीका में अभिनवगुप्त ने प्राचीन टीकाकारों और नाट्यचार्यों के अभिमतों की भी परीक्षा की है। प्राचीन भारत की नाट्यकला, संगीत, अभिनय, छन्द, अंगहार आदि विषयों की इसमें सूक्ष्मता से व्याख्या की गई है।'' भरत ने नाट्यशास्त्र में घोषणा की थी कि कोई भी ज्ञान, कोई शिल्प, कोई कला या विद्या आदि कोई ऐसा कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो। ऐसे नाट्य का वह नाट्यशास्त्र था जिस पर अभिनव ने भारती टीका लिखी। यह टीका ऐसी पाण्डित्यपूर्ण, व्यापक, तथा महनीय बन पड़ी कि विद्वानों ने उसे स्वतन्त्र और मौलिक ग्रन्थ ही मान लिया।

ध्वन्यालोकलोचन- यह आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर लिखी गई टीका है। इस टीका को सहृदयलोकलोचन तथा काव्यालोकलोचन नाम भी दिए गए। यह टीका ऐसी सर्वांगपूर्ण बन पड़ी कि अभिनवगुप्त साहित्यशास्त्रियों में लोचनकार नाम से ही कहे जाने लगे। अभिनवगुप्त ने इस टीका को लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियों से पुष्ट करके उसे प्रामाणिक बनाया। अभिनव ने लोचन टीका में ध्वनि सिद्धान्त और रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है तथा ध्वनि का विरोध करने वाले आचार्यों के मतों का दृढ़ता से खण्डन भी किया। अपनी लोचन टीका में अभिनव ने ध्वनि तथा अन्य सिद्धान्तों का जिस प्रकार समर्थन किया था, प्राय: सभी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने उसका समर्थन किया। ध्वन्यालोक के दुरूह प्रसंगों और गूढ़ अर्थों की अभिनव ने बड़ी कुशलता से व्याख्या की है तथापि इस क्रम में अनेक स्थलों पर लोचन टीका भी दुरूह बन गई।

इन दो साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों / टीकाओं के अतिरिक्त अभिनवगुप्त की लिखी एक और टीका के प्रमाण 'लोचन' तथा 'भारती' में यत्र तत्र प्राप्त होते हैं। अभिनवगुप्त को नाट्यशास्त्र की शिक्षा देनेवाले गुरु भट्टतौत ने कौतुकविवरण नामक ग्रन्थ की रचना की थी और अभिनव गुप्त ने उस पर 'विवरण' (काव्यकौतुकविवरण) नामक टीका लिखी थी। जिसके संकेत अभिनव के ही ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। किन्तु दुर्भाग्य से न तो भट्टतौत का ग्रन्थ ही अद्यावधि प्राप्त हो सका है और न ही उस पर रचित अभिनव की टीका मिली है।

कुन्तक

साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक कुन्तक इस क्षेत्र के एक प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने अपने जीवन वृत्तान्त अथवा समय के सम्बन्ध में यद्यपि कुछ नहीं लिखा है। तथापि इनका समय निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन (850 ईस्वी) तथा राजशेखर (920 ईस्वी) के पद्यों को उद्धृत किया है अत: ये इनके पश्चाद्वर्ती थे। सर्वप्रथम महिम भट्ट (11वीं शती उत्तरार्ध) ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में कुन्तक के सिद्धान्तों का उल्लेख तथा खण्डन किया है अत: कुन्तक इनसे पूर्ववर्ती हुए। इस प्रकार कुन्तक का समय दसवीं शती के उत्तरार्ध और ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध के मध्य स्थिर किया जा सकता है। आचार्यों ने अभिनवगुप्त तथा कुन्तक को समकालीन माना है।

कुन्तक की एक ही रचना 'वक्रोक्तिजीवित' प्राप्त होती है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है। प्रथम दो उन्मेष तो पूरे रूप में प्राप्त हैं किन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। इस ग्रन्थ में कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा

घोषित किया और वक्रोक्ति के स्वरूप और उसके प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ की तीन भागों से संवलित है- कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। कारिका एवं वृत्ति की रचना कुन्तक ने की है तथा उदाहरण अन्य ग्रन्थों से संकलित हैं। कुन्तक ने इस ग्रन्थ में काव्य के प्राय: सभी अंगों की विवेचना की है। इसमें उन्मेष क्रम से विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम उन्मेष- इसमें काव्य का प्रयोजन, काव्य-लक्षण, वक्रोक्ति स्वरूप तथा षड्विधवक्रता का सामान्य उल्लेख किया गया है।

द्वितीय उन्मेष- इस उन्मेष में प्रथम तीन प्रकार की वक्रताओं- वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय उन्मेष- इसमें वाक्यवक्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन है तथा उसी में अलंकारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। इसी में वस्तुवक्रता भी वर्णित है।

चतुर्थ उन्मेष-इस उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो भेदों- प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता की विवेचना की गई है।

कुन्तक ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुकरण नहीं किया अपितु उनके सिद्धान्तों की आलोचना करके उनका खण्डन किया, तथापि उन्होंने भामह, दण्डी तथा आनन्दवर्धन की प्रशंसा ही की। अपने से पूर्ववर्ती रस, अलंकार और ध्वनि तत्त्वों का समावेश कुन्तक ने वक्रोक्ति में ही करके काव्य का प्राण वक्रोक्ति को माना। कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त यद्यपि सर्वमान्य नहीं हो सका, तथापि 'वक्रोक्तिजीवित' ''संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ़ तथा युगान्तकारी ग्रन्थ है। इनका वक्रोक्ति सिद्धान्त ही काव्यजगत में एक निराला सिद्धान्त है।''

महिमभट्ट

ध्वनि विरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये भी काश्मीरी थे। मुकुलभट्ट मीमांसक थे। मीमांसा अभिधाप्रधान शास्त्र है अत: मुकुलभट्ट ने अपनी मान्यता के अनुसार व्यंजना और ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया।

मुकुलभट्ट का समय निश्चित है। महिमभट्ट ने लोचनकार के ध्वनि और 'वक्रोक्ति जीवित के सिद्धान्तों का खण्डन किया था और मम्मट ने महिम के द्वारा उद्भावित काव्य दोषों को 'काव्यप्रकाश' में ग्रहण किया है। अत: इनका समय दोनों के बीच का अर्थात् ग्यारहवीं शती का मध्यकाल माना जा सकता है।

महिमभट्ट का एकमात्र ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' है। इसके निर्माण का उद्देश्य था- ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना। अपने उद्देश्य का प्रतिपादन मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया था-

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य परां वाचम्।। व्यक्तिविवेक 1/1

महिमभट्ट का एक ही ग्रन्थ '**व्यक्तिविवेक**' प्राप्त होता है। इसी ग्रन्थ ने उनको पर्याप्त प्रसिद्ध कर दिया। महिमभट्ट के एक वाक्य से यह ज्ञात होता है कि इन्होंने 'तत्त्वोक्तिकोष' नामक एक ग्रन्थ और लिखा था, किन्तु यह ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में तीन विमर्श हैं, जिनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम विमर्श- महिमभट्ट ने इस विमर्श में ध्वनि के लक्षण में अनेक दोष प्रदर्शित करके ध्वनि के सारे उदाहरणों का अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता से अनुमान में किया है।

द्वितीय विमर्श- इस विमर्श में काव्य दोषों का निरूपण किया गया है। तदनुसार अनौचित्य ही सबसे मुख्य काव्यदोष है। अनौचित्य के दो भेद किए गए- बहिरंग तथा अन्तरंग। बहिरंग अनौचित्य के अन्तर्गत समस्त शब्दगत दोषों के भेद वर्णित हैं तथा अन्तरंग अनौचित्य के अन्तर्गत रसदोष का समावेश किया गया है।

तृतीय विमर्श- आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल खण्डन इस विमर्श में हुआ है। महिमभट्ट ने 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि के चालीस उदाहरण लेकर उनकी परीक्षा करके, इन उदाहरणों मे व्यंग्यार्थ की प्रतीति को अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है।

महिमभट्ट के विचारों, सिद्धान्तों को भले ही व्यापकता न मिली हो, किन्तु 'व्यक्तिविवेक' महत्वपूर्ण इसलिए है कि इसके रचनाकार ने 'परम्पराओं से हटकर नवीन विचारों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है'-

- महिमभट्ट ने ध्वनिकार के मत के खण्डन के साथ साथ ध्वनिविरोधी आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का भी खण्डन किया और वक्रोक्ति का अन्तर्भाव भी अनुमान में कर लिया।
- महिमभट्ट ने अभिधा तथा लक्षणा शक्ति को माना तथा व्यंजना शक्ति का सर्वथा निराकरण कर दिया। उनके अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा ही सारे अर्थों की प्रतीति हो जाती है। महिमभट्ट कहते हैं कि रस की प्रतीति भी अनुमान के अन्तर्गत आ जाती है।
- महिमभट्ट का दोषविवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकरण में महिमभट्ट का स्पष्ट प्रभाव मम्मट पर दृष्टिगोचर होता है।

व्यक्तिविवेक की टीकाएं- 'व्यक्तिववेक' की एक प्राचीन टीका अपूर्ण रूप

में प्राप्त हैऔर उस टीका में भी रचयिता का नाम नहीं है। विद्वानों के अनुसार यह टीका रुय्यक ने लिखी थी। यह टीका केवल दो विमर्शों तक मिलती है।

डॉ. काणे ने 'व्यक्तिविवेक' की एक अन्य टीका '**तिलकरत्ना**' का भी संकेत किया है। यह टीका सरयू नदी के तट पर राजा चामुण्डराय द्वारा लिखाई गई थी।

धनंजय

धनंजय का नाम नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र दोनों ही परम्पराओं में महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध है। मूलतः धनंजय रचित 'दशरूपक' नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, तथापि इसमें रसविषयक विशेष विवेचन होने के कारण इसे काव्यशास्त्रीय परम्परा में भी विशेष महत्व प्राप्त हुआ है।

धनंजय ने अपने ग्रन्थ के अन्त में अपना स्वल्प परिचय दिया है (दशरूपक 4/86)। तदनुसार धनंजय विष्णु के पुत्र थे और परमार वंशीय मालवा नरेश मुंज (974-995 ईस्वी) की पण्डित सभा में अपनी विद्वत्ता के कारण प्रसिद्ध थे। अतः धनंजय का समय दसवीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध निश्चित है। दशरूपक लिखने में धनंजय की क्या दृष्टि थी, इसका उल्लेख भी धनंजय ने ग्रन्थ के प्रारंभ (दशरूपक 1/4) में कर दिया है- 'भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त विस्तृत होने के कारण नाट्यशास्त्रीय अत्यन्त उपयोगी तत्त्वों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में इस ग्रन्थ की रचना की गई।'

दशरूपक की कारिकाओं के ऊपर उनके छोटे धनिक ने 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी। इस वृत्ति ने दशरूपक की कारिकाओं को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। वस्तुतः तो अवलोक वृत्ति दशरूपक की कारिकाओं का ही अभिन्न अंग बन गई है।

दशरूपक के चार प्रकाश हैं-

प्रथम प्रकाश- धनंजय ने सर्वप्रथम गणेश, विष्णु, भरत और सरस्वती की वन्दना करके, दस रूपकों का नामोल्लेख किया है। तदन्तर भावाश्रित नृत्य और नृत्त का स्वरूप कथित है। फिर पूरे प्रकाश में रूपकों के प्रथम भेदक तत्त्व **कथावस्तु** के प्रकार, अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों, सन्ध्यंगों तथा अर्थोपक्षेपकों की व्याख्या की गई है।

द्वितीय प्रकाश- इस प्रकाश में रूपकों के दूसरे भेदक तत्त्व **नेता** का सविस्तार विवेचन है। नायक के स्वरूप और उसके धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत- इन चार भेदों के स्वरूप कथन, नायक सहायकों, नायिका भेदोपभेद, नायिका सहायिकाओं, नायिका के 20 अलंकारों के विवेचन के पश्चात् कैशिकी, सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियों का विशद विवेचन तथा विभिन्न रसों में विभिन्न

वृत्तियों के योग का कथन हुआ है। प्रकाश के अन्त में भिन्न भिन्न पात्रों के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषाओं का भी निर्देश दिया गया है।

तृतीय प्रकाश– इस प्रकाश में उन दसों रूपकों के स्वरूप का विवेचन किया गया है जिनका नामोल्लेख प्रथम प्रकाश में धनंजय ने किया था। ये दसों रूपक हैं– नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक तथा ईहामृग। धनंजय ने नाटक और प्रकरण के संकीर्ण रूप नाटिका का भी विवेचन इस प्रकाश में किया है। नाटक का स्वरूप विवेचन करते समय धनंजय ने वाचिकाभिनय प्रधान भारती वृत्ति और उसके भेदोपभेदों का भी कथन कर दिया है।

चतुर्थ प्रकाश– पूर्वोक्त तीन प्रकाश नाट्यशास्त्रीय विवेचन से युक्त थे। चतुर्थ प्रकाश में धनंजय ने रूपकों के तृतीय भेदक तत्त्व–**रस**–सम्बन्धी अपने विचारों को तर्कपूर्ण व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। संक्षेप में धनंजय का रसविषयक मत इस प्रकार है– विभावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। यह रस रसज्ञ सहृदय में पाया जाता है, अनुकार्य राम आदि में नहीं। नट या नर्तक को भी रसास्वादन होता है अथवा नहीं– इस विषय में धनंजय स्वीकार करते हैं कि अनुकर्ता नट यदि सहृदय है तो सामाजिक के रूप में वह भी रसास्वाद कर सकता है। धनंजय ने इसी प्रकाश में विभावादि के स्वरूप तथा प्रकारों का निरूपण किया है।

चतुर्थ प्रकाश में ही धनंजय धनिक ने रस को तात्पर्या वृत्ति द्वारा ग्रहण होने की चर्चा की है। ध्वनिवादी रस को व्यंग्य मानते थे तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति की कल्पना करते हैं। धनंजय और धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों की विचारधारा से बहुत प्रभावित रहे। अत: चतुर्थ प्रकाश में उन्होंने ध्वनिवादियों के मत का खण्डन किया– (4/37) धनंजय की कारिका एवं धनिक के अवलोक के अनुसार– जिस प्रकार शब्दों के द्वारा वाच्य अथवा प्रकरण– वक्ता, श्रोता, देश, काल– आदि के द्वारा बुद्धि में स्थित क्रिया ही कारकों से युक्त होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है, उसी प्रकार अन्यभावों विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से युक्त होकर रत्यादि स्थायी भाव ही वाक्यार्थ (तात्पर्य) हुआ करता है।

यहां ग्रन्थकारों ने स्पष्ट किया है कि वाक्यार्थ में क्रिया की ही प्रधानता होती है। किसी के द्वारा कहे हुए वाक्य को सुनकर श्रोता को क्रिया का ज्ञान दो प्रकार से होता है। कहीं वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त क्रिया को सुनकर उसका बोध हो जाता है, यथा– 'गामभ्याज'– 'गाय लाओ' यहां क्रिया वाच्य रूप में श्रोता द्वारा सुनी गई है। अन्यत्र कहीं वाक्य में क्रिया साक्षात् प्रयुक्त नहीं होने से श्रोता को सुनाई नहीं देती,

किन्तु प्रकरण आदि से वह क्रिया को जान लेता है, यथा 'द्वारं-द्वारं' सुनकर क्रिया न होने पर भी श्रोता अपनी बुद्धिस्थ क्रिया 'खोल दो' को प्रकरणवशात् जान लेता है। ऐसे वाक्यों में कारकों से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्य का अर्थ बन जाती है। यही वाक्यार्थ है। बिल्कुल इसी प्रकार काव्यों में कहीं स्ववाचक पदों के प्रयोग होने से अथवा कहीं प्रकरण के वश से अथवा काव्य में वर्णित (किसी रस के साथ) नियत रूप से अभिधा द्वारा प्रतिपादित विभाव,अनुभाव के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव संबंध होने के कारण सहृदय के चित्त में रति, हास आदि स्थायी भाव साक्षात रूपसे स्फुरित होने लगता है। इस प्रकार रस काव्य में वाक्यार्थ ही होते हैं। तात्पर्यवृत्ति से ही विभावानुभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव का बोध हो जाता है। तात्पर्यावृत्ति का पर्यवसान तभी होता है जब श्रोता को वक्ता के कथन का तात्पर्य ग्रहण हो जाए। काव्य के शब्दों का लक्ष्य है श्रोता अथवा पाठक-दर्शक को आनन्दानुभूति कराना। विभावादि काव्य शब्दों के पदार्थ हैं और स्थायी भाव तथा रस उसके वाक्यार्थ। अत: रस रूपी वाक्यार्थ की प्रतीति तक तात्पर्यावृत्ति का प्रसार होता है। अत: ध्वनिवादियों की व्यंजना शक्ति की आवश्यकता ही नहीं है।

दशरूपक की टीकाएं-

1. अवलोक टीका- धनंजय के भाई धनिक की इस टीका का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि यह मूलग्रन्थ का ही एक भाग बन गई हैं।
2. नृसिंह भट्ट की टीका।
3. देवपाणि की टीका।
4. कुरविराम की टीका।
5. बहुमिश्र की टीका।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार अवलोक टीका को छोड़कर अन्य चारों टीकाएं हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं किन्तु प्रकाशित नहीं हो सकी है।

भोजराज

धारानरेश भोजराज भारतीय इतिहास तथा संस्कृत साहित्य-दोनों में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध रहे हैं। वे विद्वानों के एवं कवियों के आश्रयदाता थे, परम गुणज्ञ एवं उदार दानवीर थे तथा स्वयं भी काव्यशास्त्र के पण्डित, रसिक कवि तथा निपुण समालोचक थे।

भोजराज परमारवंशीय क्षत्रिय राजा थे। इनका समय सुनिश्चित ही है। विद्वानों ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इनके राज्यकाल का समय 1005 से 1055

निश्चित किया है। अत: भोजराज ग्यारहवीं शती में थे।

भोज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। डॉ. राघवन् ने भोज रचित 84 ग्रन्थों का उल्लेख किया है। डॉ. टी.ऑफैक्ट महोदय ने भोज के तेईस ग्रंथों का नामोल्लेख किया है। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भोज के लिखे हुए दो पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं-

1. सरस्वतीकण्ठाभरण- अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों का विवेचन किया गया है। अत्यन्त विस्तृत इस ग्रन्थ में अनेक काव्यतत्त्वों का विवेचन तो है ही, साथ ही भोज ने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों को एकत्रित करके उनके समन्वय का प्रयत्न भी किया है। यह ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में विभक्त है, जिसमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम परिच्छेद- काव्य का लक्षण और प्रयोजन देने के पश्चात् पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनों के सोलह-सोलह दोषों का कथन है। तदनन्तर चौबीस शब्द गुणों तथा चौबीस अर्थगुणों का विवेचन हुआ है।

द्वितीय परिच्छेद- इस परिच्छेद में शब्दालंकारों का विवेचन है। सर्वप्रथम अलंकारों के तीन भेद किए गए हैं-1. शब्दालंकार अथवा बाह्य अलंकार, 2. अर्थालंकार अथवा आभ्यन्तर अलंकार तथा 3. उभयालंकार अथवा बाह्याभ्यन्तर अलंकार। भोज ने चौबीस शब्दालंकार कहे हैं। भोज ने रीतियों को शब्दालंकार के अन्तर्गत मानकर उनका विवेचन किया है।

तृतीय परिच्छेद- चौबीस अर्थालंकारों की सोदाहरण विवेचना इस परिच्छेद में की गई है।

चतुर्थ परिच्छेद- भोज ने इसमें चौबीस उभयालंकारों का विवेचन किया है।

पंचम परिच्छेद- इस परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिका के भेदोपभेद, पंचसन्धि तथा चारों वृत्तियों आदि विषयों का वर्णन है।

सरस्वतीकण्ठाभरण में पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों से उदाहरण ग्रहण किए गए हैं। इन कवियों के नाम उनके समय निर्धारण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' जैसे विशाल ग्रन्थ पर चौदहवीं शती में तिरहुत के नरेश रामसिंहदेव के आग्रह से लिखी गई महामहोपाध्याय रत्नेश्वर की **'रत्नदर्पण' टीका** प्राप्त होती है। यह टीका अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है।

2. श्रृंगारप्रकाश- भोजराज का यह दूसरा ग्रन्थ अत्यन्त विशालकाय है। हस्तलिखित प्रति सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध है किन्तु पूरे ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हो सका है। डॉ. राघवन् ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन करके इसकी विषयवस्तु को सम्यकरूपेण समझाया है।

शृंगार प्रकाश में छत्तीस प्रकाश हैं। डॉ. काणे ने सारे ही प्रकाशों की विषय वस्तु का क्रमिक प्रतिपादन किया है। इसके प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द और अर्थ की विवेचना की गई है तथा शब्द और अर्थ के विषय में अनेक वैयाकरणों के मत दिए गए हैं। नवें प्रकाश में काव्य के दोषों और गुणों के कथनपूर्वक दोषपरित्याग तथा गुणग्रहण का निर्देश किया गया है। दसवें प्रकाश में शब्द, अर्थ तथा उभय अलंकारों का विवरण है। ग्यारहवें प्रकाश में रस, बारहवें प्रकाश में नाटक का विवेचन है। शेष चौबीस प्रकाशों में विशेषतः शृंगार रस का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन किया गया है।

शृंगार प्रकाश की कोई भी प्राचीन टीका उपलब्ध नहीं है तथापि अन्य ग्रन्थों में इनके मतों के प्राप्त होने से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान अवश्य हो जाता है।

भोजराज के ग्रन्थों का महत्त्व- भोजराज ने अपने ग्रन्थों में प्राचीन आचार्यों के मतों का समन्वय अवश्य किया, किन्तु उनका नवीन तथा मौलिक चिन्तन भी महत्वपूर्ण है।

- भोज का श्रृंगारप्रकाश अलंकारशास्त्र का सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है जिसमें काव्य तथा नाट्य के लगभग सभी तत्त्वों का विवेचन किया गया है।
- काव्यगुणों की संख्या 48 कर दी गई है।
- अलंकारों के तीन वर्ग किए- शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार।
- रीतियों की संख्या छह प्रतिपादित की- वैदर्भी, पांचाली, गौडीया, आवन्तिका, लाटीया तथा मागधी; एवं रीतियों को भी अलंकार ही माना।
- भोज का सर्वाधिक महत्व उनके रस विवेचन में है। अपने दोनों ही ग्रन्थों में उन्होंने रस का विस्तार से वर्णन किया। पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुकरण करते हुए भोज ने दस रस तो गिनाए किन्तु शृंगाररस को ही प्रधान अथवा एकमात्र रस माना। भोज का यह शृंगार सामान्य शृंगार नहीं है अपितु उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का समावेश हो जाता है।

क्षेमेन्द्र

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य क्षेमेन्द्र की प्रसिद्धि औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में अधिक है। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों में अपना संक्षिप्त सा परिचय दिया है जिससे उनके समय के सम्बन्ध में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इनके पूर्वज काश्मीर के राजाओं के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित थे। क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्त को साहित्यशास्त्र का अपना गुरु माना है। अतः क्षेमेन्द्र का रचनाकाल अभिनवगुप्त से

तनिक ही बाद का होना चाहिए। विद्वानों ने यह समय 1020 ईस्वी से 1066 ई. मध्य स्थिर किया है।

क्षेमेन्द्र बहुश्रुत भी थे और लेखनी के धनी भी। ''क्षेमेन्द्र एक ऐसे आचार्य थे जिन्होंने सबसे अधिक विधाओं में साहित्य रचना की थी। इनके अतिरिक्त ऐसा कोई कवि या आचार्य नहीं हुआ, जिसने इतनी अधिक विधाओं और संख्या में ग्रन्थों की रचना की हो।'' डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार क्षेमेन्द्र ने चालीस ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से अनेक ग्रन्थ प्राप्त हैं किन्तु कुछ ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से क्षेमेन्द्र का '**कविकण्ठाभरण**' ग्रन्थ कविशिक्षाविषयक एक सामान्य ग्रन्थ है। '**सुवृत्ततिलक**' ग्रन्थ में छन्दों का वर्णन है। क्षेमेन्द्र का '**औचित्यविचारचर्चा**' ग्रन्थ ही अलंकार शास्त्र के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध है और इसी के कारण क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र के इतिहास में स्थान अर्जित किया।

जैसा लिखा जा चुका है, क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा ग्रन्थ में औचित्य को काव्य का आत्मतत्त्व घोषित करके औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की। इस ग्रन्थ में कारिका एवं वृत्ति भाग क्षेमेन्द्र रचित है। व्याख्या रूप में दिए गए उदाहरणों में कुछ क्षेमेन्द्र के स्वरचित हैं तथा अन्य उदाहरण पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों- कालिदास, भवभूति, हर्ष, बाण, अमरुक आदि - की रचनाओं से ग्रहण किए गए हैं।

क्षेमेन्द्र ने प्रतिपादित किया कि औचित्य ही रससिद्ध काव्यका प्राणभूत तत्त्व है- ''**औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यजीवितम्**'' क्षेमेन्द्र का कथन था कि अपने स्थान के औचित्य से ही प्रत्येक वस्तु सुशोभित होती है। कण्ठ में मेखला अथवा हाथ में नुपूर पहनने से शोभा नहीं हो सकती। काव्य के अलंकार और काव्यगुण भी औचित्य के बिना रोचक नहीं होते।

औचित्य है क्या? इसके उत्तर में क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार व्याख्या की है-

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात्- जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसको आचार्यगण उचित कहते हैं और उचित का जो भाव है उसे औचित्य कहा जाता है।

क्षेमेन्द्र के अनुसार औचित्य का क्षेत्र अनन्त है तथापि काव्य में प्रधान रूप से 27 क्षेत्र हो सकते हैं। इनमें से कुछ का संबंध मीमांसा दर्शन से, कुछ का सम्बन्ध काव्यशास्त्र से, कुछ का सम्बन्ध व्याकरण से, कुछ का सम्बन्ध लोक से और अन्य का संबंध स्वयं कवि से है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सभी भेदों, प्रभेदों की व्याख्या उदाहरण सहित की है।

(अधिक विस्तार के लिए औचित्य सम्प्रदाय को पढ़ें ।)

मम्मट

अलंकारशास्त्र के आचार्यों की दृष्टि से काश्मीर की भूमि उत्यन्त उर्वर रही है। मम्मट भी काश्मीरी ही थे। किन्तु इनके जीवनवृत्त का अधिक परिचय प्राप्त नहीं होता। परम्परा से एक प्रसिद्धि चली आ रही है कि नैषधकार श्रीहर्ष मम्मट के भांजे थे, किन्तु हर्ष स्वयं ही काश्मीरी नहीं थे- अत: यह प्रसिद्धि प्रवाद मात्र है।

मम्मट ने अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है जिनका समय दसवीं शती के उत्तरार्ध से ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। और मम्मट ने भोज के दान की प्रशंसा की है, भोज का समय 1005 से 1055 तक कहा गया है। अत: मम्मट का समय 1050 से 1100 शती ईस्वी माना जाता है।

अपनी विद्वता एवं पाण्डित्य के कारण मम्मट ने 'वाग्देवतावतार' का विशेषण प्राप्त किया। मम्मट के इस अभूतपूर्व गौरव का कारण उनका ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इस ग्रन्थ में काव्य से सम्बद्ध सभी विषयों/ तत्त्वों का प्रतिपादन सूत्रशैली में किया गया है। भरत से मम्मट तक लगभग 1200 वर्षों के सुदीर्घ समय में जितने भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गए, उन सबका सारतत्त्व मम्मट ने अपने ग्रन्थ में ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में जिन काव्यतत्वों की उपेक्षा कर दी थी, उन सभी काव्यतत्त्वों की भी विवेचना करके मम्मट ने काव्यप्रकाश को एक सर्वांगसम्पूर्ण रूप प्रदान किया। डॉ. पारसनाथ द्विवेदी के शब्दों में ''काव्यप्रकाश की लोकप्रियता का कारण यह है कि मम्मट ने काव्यप्रकाश में अपने से पूर्ववर्ती सभी विचारधाराओं को उपस्थित किया है, पर दासवत् अनुकरण नहीं किया है। नीरक्षीरविवेक न्याय से जिसे उचित समझा, उसे तो अपने ग्रन्थ में उचित स्थान दिया और जिसे अनुचित समझा उसकी समालोचना की है तथा परित्याज्य अंशों का त्याग कर दिया है, किन्तु विशेष रूप से समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है।'' आनन्द वर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की थी, ध्वनिविरोधी भट्टनायक तथा महिमभट्ट आदि ने उस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन अपने अपने ग्रन्थों में किया। किन्तु मम्मट ने उन सारे ध्वनि विरोधियों की युक्तियों का तर्कपूर्वक खण्डन ही नहीं किया; अपितु 'काव्यप्रकाश' में ध्वनि के सिद्धान्त को 'ध्वन्यालोक' की भी अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं व्यवस्थित रूप में स्थिर कर दिया। इसलिए मम्मट को 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है।

काव्यप्रकाश ग्रन्थ के भी तीन भाग हैं- कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। कारिकाओं में सिद्धान्त अथवा नियम है तथा वृत्ति में उनकी व्याख्या की गई है। कारिकाओं को

कदाचित् सूत्र भी कहा गया है। उदाहरण पूर्वरचित ग्रन्थों से ग्रहण किए गए है। काव्यप्रकाश में दस उल्लास है जिनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है-

प्रथम उल्लास- प्रयोजन-कारण-स्वरूपविशेष-निर्णयः- इस उल्लास में काव्य के प्रयोजन, हेतु और लक्षण, अधम (चित्रकाव्य) की परिभाषाएं और उदाहरण दिए गए हैं।

द्वितीयउल्लास-शब्दार्थस्वरूपनिर्णयः-इस उल्लास में शब्दशक्तियों की विवेचना की गई है। काव्य में तीन प्रकार के शब्द-वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंग्य; तदनुसार तीन प्रकार के अर्थ-वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य; तीन प्रकार की शब्द शक्तियां- अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना; इन सबके भेदोपभेदों का निरूपण हुआ है।

तृतीय उल्लास- अर्थव्यंजकता-निर्णयः- इस उल्लास में आर्थी व्यंजना के दस भेद करके उनका उदाहरण सहित विवेचन किया गया है।

चतुर्थ उल्लास-ध्वनिनिर्णय :- इसमें ध्वनिकाव्य के भेद प्रभेद कहे गए हैं। इसी उल्लास में भरत के रससूत्र के साथ रसस्वरूप, रसनिष्पत्ति, स्थायी विभाव, व्याभिचारिभाव, रसभेद, रससंख्या आदि का विस्तृत विवेचन है।

पंचम उल्लास-ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यसंकीर्णभेद-निर्णयः- इसमें सर्वप्रथम गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेदोपभेद का सविस्तार सोदाहरण वर्णन है। तदनन्तर मम्मट ने रसप्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता और अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है। इसी उल्लास में मम्मट ने व्यंजनाविरोधी आचार्यों के मतों का समीक्षापूर्वक खण्डन किया है।

षष्ठ उल्लास- शब्दार्थनिरूपणम्- अत्यन्त छोटे से इस उल्लास में चित्रकाव्य के दो भेदों शब्दचित्र तथा अर्थचित्र का निरूपण है।

सप्तम उल्लास- दोषदर्शनः- इस सम्पूर्ण उल्लास में दोषों का निरूपण है। मम्मट के अनुसार काव्य में मुख्य अर्थ रस होता है और जो मुख्यार्थ का अपकर्ष करता है, वह दोष है। रस का आश्रय होने से वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ हो जाता है- यही अर्थदोष है। रस और वाच्यार्थ के उपकारक शब्दादि होते हैं। अत: उनमें भी दोष रहता है और उसे पददोष कहते हैं। दोष दो प्रकार के होते है- नित्य एवं अनित्य। मम्मट ने दोष परिहरण के उपाय भी कहे हैं। मम्मट ने अनौचित्य को रस का सबसे बड़ा दोष कहा है।

अष्टम उल्लास- गुणालंकारभेदनियतगुणनिर्णयः- मम्मट ने सर्वप्रथम गुण और अलंकार की परिभाषापूर्वक इनका अन्तर स्पष्ट किया है। प्रधान रस के अपरिहार्य और उत्कर्ष करने वाले धर्म गुण हैं तथा रस को कभी कभी उपकृत करने

वाले अलंकार होते हैं। गुण दस नहीं अपितु केवल तीन ही है- माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। मम्मट ने अर्थगुणों को गुण ही नहीं माना।

नवम उल्लास- शब्दालंकारनिर्णय:- इस उल्लास में शब्दालंकारों का स्वरूप और उदाहरण दिए गए हैं। अनुप्रास अलंकार के अन्तर्गत ही वृत्तियों/ रीतियों का कथन कर दिया गया है।

दशम उल्लास- अर्थालंकारनिर्णय:- इस उल्लास में 61 अलंकारों की सोदाहरण विशद विवेचना की गई है। व्याकरण के आधार पर उपमा के 22 भेदों का वर्णन है। 61 अलंकारों के विवेचन के उपरांत संकर तथा संसृष्टि का भी वर्णन है।

इस विषय प्रतिपादन से स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य से सम्बद्ध विषयों को छोड़कर 'काव्यप्रकाश' में काव्य के सभी अंगों का अत्यन्त विस्तृत निरूपण हुआ है।

काव्यप्रकाश की टीकाएं- मम्मट के इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले विद्वानों की संख्या बहुत बड़ी है। वस्तुत: टीकाओं के बिना काव्यप्रकाश की दुरूहता का भेदन अत्यन्त कठिन है। इस ग्रन्थ पर लगभग 75 टीकाएं संस्कृत में लिखी जा चुकी है। काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि घर घर में काव्यप्रकाश की टीकाएं विद्यमान है, किन्तु फिर भी 'काव्यप्रकाश' उतना ही दुरूह और अभेद्य बना हुआ है-

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे।
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम:।।

वामनाचार्य झलकीकर ने 1747 ई. में काव्यप्रकाश पर '**बालबोधिनी**' नामक टीका लिखी, जिसमें काव्यप्रकाश के मर्म को अत्यन्त सरल रूप से स्पष्ट किया। अपनी टीका में झलकीकर महोदय ने काव्यप्रकाश की 48 टीकाओं और उनके रचयिताओं के नाम पद्यबद्ध रूप में दिए। काव्यप्रकाश की निम्नलिखित प्राचीन टीकाएं अधिक प्रसिद्ध रही हैं-

1. **संकेत टीका-** माणिक्यचन्द्र रचनाकाल 1160 ईस्वी के लगभग। यह टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई।

2. **चित्तानुरंजिनी टीका-** सरस्वती तीर्थ, 1242 ईस्वी।

3. **दीपिका टीका-** जयन्तभट्ट, 1294 ईस्वी।

4. **काव्यादर्श टीका-** सोमेश्वर, 13वीं शती उत्तरार्ध। इसका दूसरा नाम **संकेत टीका** भी है।

5. **दीपिका टीका-** चण्डीदास, 13वीं शती मध्यभाग।

6. **काव्यप्रकाशदर्पण टीका-** विश्वनाथ कविराज, 14वीं शती उत्तरार्ध।

7. काव्यप्रदीप- गोविन्द ठक्कर, 15वीं शती उत्तरार्ध। यह अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है। इस टीका पर वैद्यनाथ ने 'प्रभा' टीका तथा नागोजी भट्ट ने 'उद्योत' टीका लिखी थी। आदि

मम्मट एवं काव्यप्रकाश का महत्व- आचार्य विश्वेश्वर ने 'काव्यप्रकाश' की अपनी हिन्दी टीका में लिखा है ''काव्यप्रकाश के गौरव और उपादेयता की वृद्धि करने वाले और उसे अन्य सबकी अपेक्षा अधिक गौरव तथा आदर प्राप्त कराने वाले कारणों का संग्रह हम पांच भागों में कर सकते हैं-

1. काव्यप्रकाशकार ने साहित्यशास्त्र के एक सहस्त्र वर्ष के समस्त आचार्यों की कृतियों का अवगाहन और मनन करके उनके सर्वोत्तम सारभाग का संग्रह करके उनको अपने इस ग्रन्थ में उपस्थित करने का यत्न किया है और अपने उस प्रयत्न में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

2. पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों के विषय में प्रतिपादन की दृष्टि से जो न्यूनता या त्रुटियां रह गई थीं इन सबको हृदयंगम करके मम्मट ने अपने ग्रन्थ में उन सबको दूर करके, विषय की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वांगसुन्दर एवं परिपूर्ण बनाने का यत्न किया है और उस यत्न में पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

3. मम्मट ने साहित्यशास्त्र के शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलंकार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वों का यथार्थ मूल्यांकन किया है और उसी के अनुसार उनको अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है।

4.संक्षिप्त सूत्रशैली का अवलम्बन कर परिमित शब्दों में अधिक से अधिक विषय देने का यत्न किया है।

5. पूर्वाचार्यो द्वारा प्रतिपादित विविध संख्याक काव्य गुणों का मम्मट ने तीन गुणों में अन्तर्भाव कर दिया।

6. गुण और अलंकार के भेद निरूपण में मम्मट ने मौलिकता प्रदर्शित की है।

7. ध्वनि सम्प्रदाय की सुदृढ़ स्थापना मम्मट का महत्वपूर्ण अवदान है।

संक्षेपत: मम्मट अलंकारशास्त्र के प्रमुखतम आचार्यों में परिगणित है।

रुय्यक

अलंकारशास्त्रीय आचार्यों में राजानक रुय्यक एक महत्वपूर्ण नाम है। इनके नाम के साथ जुड़ी राजानक उपाधि इनके काश्मीरी होने का प्रबल प्रमाण है, क्योंकि कश्मीर के राजागण ही अपने प्रमुख विद्वानों को 'राजानक' की उपाधि से विभूषित करते थे। इनके समय के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। रुय्यक ने 'काव्यप्रकाश' पर संकेत नामक टीका की रचना की थी, अत: ये मम्मट (1100

ई.) के पश्चात् हुए। रुय्यक के एक शिष्य मंखक थे, जिन्होंने 'श्रीकण्ठचरित' नामक काव्य लिखा। रुय्यक ने इस काव्य के पांच पद्यों को अपने ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' में उदाहरण रूप में ग्रहण किया है। मंखक कश्मीर के राजा जयसिंह (1128 से 1148 ईस्वी) के सन्धिविग्राहक पद पर रहे थे। इस दृष्टि से रुय्यक का समय बारहवीं शती का मध्य भाग माना गया है।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में **'अलंकारसर्वस्व'** ग्रन्थ की रचना करने वाले रुय्यक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। डॉ. कृष्णकुमार लिखते है- "इन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के अलंकार सम्बन्धी अन्वेषणों और मन्तव्यों का समन्वय कर लिया था। भरत और भामह से लेकर मम्मट तक जितने भी आचार्य हुए थे, उनके अलंकार प्रतिपादन में होने वाली कमियों का अनुभव करके रुय्यक ने उनका परिहार किया था। रुय्यक के समय तक 118 अलंकारों की उद्‌भावना हो चुकी थी। रुय्यक ने इनमें से 75 अलंकारों को स्वीकार किया तथा 7 अलंकारों की स्वयं उद्‌भावना की। इस प्रकार रुय्यक ने 82 अलंकारों का विवेचन किया।"

राजानक रुय्यक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से अधिकांश अनुपलब्ध ही है। 'अलंकार सर्वस्व' इनकी सबसे महनीय कृति है। इस ग्रन्थ के 18 सूत्रों में रुय्यक ने 6 शब्दालंकारों और 71 अर्थालंकारों का निरूपण किया है। ग्रन्थ का विषय प्रतिपादन अन्य शास्त्रकारों के सदृश ही है। अलंकारों के लक्षण सूत्र रूप में है; वृत्ति में उनकी व्याख्या की है और उदाहरण के द्वारा लक्षण की पुष्टि की गई है।

रुय्यक ने सम्भवतः एक विशेष क्रम का आश्रय लेकर अलंकारों का निरूपण किया था। डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने 'अलंकार सर्वस्व' की व्याख्या करते हुए उसकी भूमिका में रुय्यक के सम्भावित वर्गीकरण को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है। (हिन्दी अलंकार सर्वस्व- पृष्ठ 46-47)-

शुद्ध खण्ड

1. शब्दालंकार वर्ग (पौनरुक्त्य वर्ग)-

पौनरुक्त्यविच्छिति

1. अर्थपौनरुक्त्य	पुनरुक्तवदाभास
2. व्यंजनपौनरुक्त्य	छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास
3. स्वरव्यंजनपौनरुक्त्य	यमक
4. शब्दार्थोभयपौनरुक्त्य	लाटानुप्रास

5. स्थानविशेषश्लिष्टवर्णनपौनरुक्त्यम् चित्र

2. अर्थालंकार वर्ग

1. सादृश्यविच्छित्ति

(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण

(ख) अभेदप्राधान्यमूलक

(अ) आरोपाश्रित - रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति

(ब) अध्यवसायाश्रित- उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति

(ग) गम्यौपम्यमूलक - तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना

(घ) भेदप्राधान्यमूलक- व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति

(2) विशेषणविच्छित्ति

(क) केवलविशेषणविच्छित्ति- समासोक्ति, परिकर

(ख) सविशेष्यविशेषणविच्छित्ति- श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास,

(3) गम्यार्थविच्छित्ति

पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप

(4) विरोधविच्छत्ति

(क) शुद्ध विरोध विरोध

(ख) कार्यकारणभावाश्रितविरोधमूलक- विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, व्याघात

(ग) आश्रयाश्रयित्वविरोध मूलक- अधिक, विशेष

(घ) व्यतिहारविरोधमूलक- अन्योन्य

(5) श्रृंखलाविच्छित्ति-

करणमाला, एकावली, मालादीपक, सार

(6) न्यायविच्छित्ति

काव्यलिंग, अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति

(क) तर्कन्यायमूलक-परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प

(ख) वाक्यन्यायमूलक समुच्चय, समाधि

(ग) लोकन्यायमूलक प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर।

(7) गूढार्थपरताविच्छित्ति

(क) शुद्ध- सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविकम्

(ख) स्फुटार्थता भाविक

(ग) उदात्तता–उदात्त

(घ) चित्तवृत्याश्रित–रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि,समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता

2. मिश्रखण्ड

1. संसृष्टि

(क) शब्दालंकारसंसृष्टि

(ख) अर्थालंकारसंसृष्टि

(ग) उभयालंकार संसृष्टि

(2) संकर

टीकाएं– अलंकार सर्वस्व ग्रन्थ पर प्राचीन समय से ही अनेक टीकाएं लिखी जाती रही।

1. विमर्शिनी टीका– इसके रचयिता जयरथ थे। इनका समय तेरहवीं शती का आरम्भिक भाग माना जाता है। यह टीका अत्यन्त विद्वतापूर्ण, श्रेष्ठ और प्रसिद्ध है।

2. विवरण टीका– समुद्रबन्ध के द्वारा लिखी गई यह टीका भी प्रसिद्ध है। केरल के राजा रविवर्मा (जन्मकाल 1265 ईस्वी) के राजपण्डित होने के कारण इनका समय तेरहवीं शती का उत्तरार्ध हैं।

3. संजीवनी टीका– विद्या चक्रवर्ती द्वारा लिखी गई इस टीका का पूरा नाम 'अलंकार संजीवनी' अथवा 'सर्वस्व संजीवनी' है। विद्या चक्रवर्ती ने स्वयं को होयसल नरेश वल्लाल तृतीय (1291–93) का सभापण्डित कहा है। अतः इस टीका का रचनाकाल चौदहवीं शती का पूर्वार्ध होना चाहिए।

अलक नामक विद्वान् की लिखी एक और टीका उल्लेख तो अन्य ग्रन्थ में मिलता है, किन्तु न तो अलक का परिचय प्राप्त है, न टीका का नाम ज्ञात है और न ही वह टीका उपलब्ध है।

रुय्यक का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि ''उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने अलंकारों की जो समीक्षाएं की थीं, रुय्यक उनके लिए प्रेरणा के स्रोत रहे थे। रुय्यक के अनन्तर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पांडे तक जितने भी काव्यशास्त्र के आचार्य हुए, उन्होंने रुय्यक से प्रेरणा तथा मार्ग का निर्देशन लेकर अपनी अलंकारों की विवेचना प्रस्तुत की थी। इस प्रकार अलंकारों के चिन्तन एवं विवेचन में रुय्यक मेरुदण्ड के सदृश रहे। इनके अनुशीलन के बिना अलंकारों का अध्ययन पूर्ण नहीं माना जा सकता।''

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र जैनधर्म के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इन्होंने अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ **'काव्यानुशासन'** अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। अपनी विद्या और प्रतिभा के कारण हेमचन्द्र गुजरात में बहुत प्रसिद्ध हुए।

जैन मतावलम्बी हेमचन्द्र गुजरात के दो राजाओं के गुरु रहे थे। इनके जीवनवृत्त का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक ग्राम में विक्रम संवत् 1145 (1088 ईस्वी) में हुआ था तथा देहावसान विक्रम संवत् 1229 (1173 ईस्वी) में हुआ। अनहिलपाटन के राजा सिद्धराज जयसिंह (1093–1143 ईस्वी) तथा जयसिंह के पुत्र कुमारपाल (1143–1172 ईस्वी) हेमचन्द्र के शिष्य रहे। हेमचन्द्र के सुयोग्य शिष्य रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र हुए जिन्होंने नाट्यविषयक 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की।

हेमचन्द्र ने अनेकानेक विद्वतापूर्ण ग्रन्थ लिखे। डॉ. ऑफ्रेक्ट ने हेमचन्द्र के लिखे 24 ग्रन्थों की सूची दी है। इनमें अधिकांश ग्रन्थ व्याकरण से सम्बद्ध हैं। हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' (1/2) में स्वयं लिखा है कि 'अपने ग्रन्थ में वाणी का अच्छी तरह विवेचन करके अब वे काव्यत्व का विवेचन कर रहे हैं।' काव्यानुशासन सूत्रपद्धति पर लिखा गया है; और उस पर विवेक नामक वृत्ति भी हेमचन्द्र ने लिखी है। सारे उदाहरण पूर्ववर्ती ग्रन्थों से लिए गए हैं। ग्रन्थ में आठ अध्याय है जिनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है–

प्रथम अध्याय– काव्य का प्रयोजन एवं हेतु; काव्य परिभाषा, गुण–दोष–अलंकार के लक्षण; शब्द तथा अर्थ का स्वरूप आदि।

द्वितीय अध्याय– रसलक्षण, रसभेद, नौ रसों का स्वरूप, स्थायी तथा सात्विक भाव आदि।

तृतीय अध्याय– रसदोष, पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष आदि।

चतुर्थ अध्याय– माधुर्य, ओज, प्रसाद, गुणों का स्वरूप विवेचन तथा इनके व्यंजक तत्त्व।

पंचम अध्याय– अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास– इन छह अलंकारों का निरूपण।

षष्ठ अध्याय– 29 अर्थालंकारों का विवेचन।

सप्तम अध्याय– नायक नायिका के गुण एवं भेद; स्त्रियों के 20 स्वाभाविक अलंकार।

अष्टम अध्याय– काव्य के श्रव्य तथा प्रेक्ष्य भेद तथा उनके प्रभेदों का निरूपण।

हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में विद्वता की प्रौढ़ि अवश्य है किन्तु यह एक मौलिक ग्रन्थ के रूप में सम्भवत: मान्य नहीं हो पाया। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ में काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक, लोचन टीका, अभिनव भारती तथा काव्यप्रकाश आदि से लम्बे लम्बे उद्धरण देकर इसे संग्रह ग्रन्थ-सा बना दिया। ग्रन्थ के रसप्रकरण में अभिनवभारती के रसप्रसंग को हेमचन्द्र ने सम्पूर्णत: अक्षरश: उद्धृत कर दिया है। सम्भवत: इसी कारण परवर्ती आचार्यों में बहुत कम आचार्यों ने इन्हें प्रमाण रूप में उद्धृत किया।

रामचन्द्र- गुणचन्द्र-

आचार्य हेमचन्द्र के ये दोनों प्रमुख शिष्य जैनधर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् के रूप में मान्य हैं। इनमे से गुणचन्द्र के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं होता। केवल इतना ही ज्ञात है कि ये भी हेमचन्द्र के शिष्य थे और रामचन्द्र के छोटे भाई थे। इन्होंने रामचन्द्र के साथ मिलकर नाट्यदर्पण की रचना की थी।

रामचन्द्र अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि इन्होंने सौ से अधिक ग्रन्थ लिखे थे, क्योंकि इन्हें 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा गया है। अपने ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' में रामचन्द्र ने स्वरचित ग्यारह नाट्यों का निर्देश किया है। उनमें 'नलविलास नाटक' अधिक प्रसिद्ध है। इनका समय 1100 ईस्वी से 1175 ईस्वी माना जाता है।

'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ में नाम के अनुकूल ही नाट्यशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसकी रचना भी कारिका शैली में हुई, तथा कारिकाओं पर वृत्ति भी लेखकद्वय ने लिखी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार विवेकों में विभक्त है, जिनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम विवेक- नाटकनिर्णय विवेक- इस विवेक में नाटक की विवेचना है।

द्वितीय विवेक- प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णय विवेक- इस विवेक में नाटक को छोड़कर प्रकरण आदि ग्यारह रूपक भेदों का स्वरूप विवेचन किया गया है।

तृतीय विवेक- वृत्तिभावाभिनय विचार- यह विवेक वृत्तियों, भावों और अभिनयों के प्रकारों के साथ रस के स्वरूप और उसकी रंजकता का निरूपण करता है। इसी विवेक में रामचन्द्र रस के सम्बन्ध में जो मौलिक स्थापनाएं कीं; उनके कारण वे काव्यशास्त्र परम्परा में समाहृत है।

चतुर्थ विवेक- सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णय- इस विवेक में सभी रूपकों के लिए समान तत्त्वों का कथन और विवेचन है।

'नाट्यदर्पण' मूलत: नाट्यशास्त्रीय कृति है, किन्तु तृतीय विवेक में रामचन्द्र ने

रसों के स्वरूप निरूपण एवं संख्या निर्धारण करने में जो वैशिष्ट्य दिखाया है, उसके कारण यह ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय परम्परा में भी परिगणित होने योग्य हैं।

1. रामचन्द्र के पूर्व तक भरतादि सभी आचार्यों ने काव्यरस के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर रस का स्वरूप केवल सुखात्मक प्रतिपादित किया था। किन्तु रामचन्द्र ने इस परम्परा का खण्डन करते हुए रसों को दो वर्गों में बांट दिया। उनके अनुसार श्रृंगार, हास्य, वीर, अदभुत तथा शान्त- ये पांच रस सुखात्मक होते हैं और करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक- ये चार रस दुखात्मक होते हैं। दुखात्मक होने पर भी कवि या अभिनेता के कौशल से चमत्कृत होकर प्रेक्षक इन रसों की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

2. पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रतिपादित किया था कि रसानुभूति दर्शकों को होती है, अभिनेता को नही। यदि अभिनेता को रसानुभव होने लगे तो अभिनय में व्याघात हो जाएगा। किन्तु रामचन्द्र ने यह निरूपित किया कि अभिनेता भी रस की अनुभूति उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे धनलोभ से रतिकार्य में प्रवृत्त होने वाली वेश्या भी रतिसुख का अनुभव कर सकती है।

काव्य-रस के इसी निरूपण के कारण रामचन्द्र गुणचन्द्र काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए।

जयदेव

संस्कृत साहित्य में जयदेव नाम के दो साहित्यकार हुए हैं। एक ने 'गीतगोविन्द' नामक रसनिर्भर काव्य रचना की, दूसरे ने 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा 'चन्द्रालोक' नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। ये दोनों जयदेव भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा अभिन्न एक ही व्यक्ति-इस विषय को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतवैभिन्य रहा है तथा अभी भी यह विवेचना रुकी नहीं है। किन्तु अधिकांश विद्वान इन दोनों को भिन्न मानते हैं।

चन्द्रालोककार जयदेव ने इस ग्रन्थ में अपने पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम सुमित्रा बताया है। (चन्द्रलोक 1/16)। प्रसन्नराघव में जयदेव स्वयं को कौण्डिन्य कहते हैं अर्थात् वे विदर्भ देश में स्थित कुण्डिनपुर के निवासी थे। जयदेव के समय के सम्बन्ध में उनकी रचनाओं में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता, किन्तु बहिरंग प्रमाण जयदेव के समय को स्थिर कर देते हैं। जयदेव ने चन्द्रालोक में भामह के काव्यलक्षण की आलोचना की है तथा रुय्यक के दो अलंकार-लक्षणों को यथावद् ग्रहण कर लिया है, अतः जयदेव 12वीं शती के पश्चात् हुए। विश्वनाथ (14वीं शती) ने जयदेव के श्लोक को उद्धृत किया है। अतः जयदेव इससे पूर्व

तेरहवीं-चौदहवीं शती के मध्य में हुए होंगे।

जयदेव का अलंकारग्रन्थ चन्द्रालोक अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ। इसका मूल कारण है इस ग्रन्थ की सरलता। अलंकारों के संबंध में जयदेव का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य उनके अलंकार निरूपण में है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया, जिसके पूर्वार्ध में अलंकार का लक्षण तथा उत्तरार्ध में उसका उदाहरण दे दिया है। इससे अलंकारों को समझने और स्मरण रखने में बहुत सरलता अनुभव होती है। ग्रन्थ में दस मयूख (अध्याय) हैं तथा कुल 350 श्लोक हैं। ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन का यह क्रम है-

प्रथम मयूख- वाग्विचार- काव्य की परिभाषा, हेतु तथा शब्द के तीन प्रकारों रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ़ का निरूपण किया गया है।

द्वितीय मयूख- दोषनिरूपण- नाम के अनुसार इसमें काव्यदोषों का विवेचन किया गया है। दोषों का वर्गीकरण शब्द, अर्थ, वाक्य आदि के भेदपूर्वक हुआ है।

तृतीय मयूख- लक्षण निरूपण- अपने काव्य की चारुता वृद्धि के लिए कवि को किन उपायों की योजना करनी चाहिए, इसका प्रतिपादन तृतीय मयूख में है। जयदेव ने सुष्ठुरूपेण किया है।

चतुर्थ मयूख- गुण-निरूपण- इस मयूख में जयदेव ने वामन का अनुसरण करते हुए काव्य के दस गुणों का विवेचन किया है।

पंचम मयूख- अलंकार निरूपण- इस मयूख में चार शब्दालंकारों और सौ अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है।

षष्ठ मयूख-रसभावरीतिवृत्तिनिरूपण- रसों, भावों, पांचाली-गौडी-लाटी रीतियों तथा मधुरा-प्रौढ़ा-परुषा-ललिता भद्रा वृत्तियों का विवेचन हुआ है।

सप्तम मयूख- शब्दशक्तिनिरूपण- व्यंजना का प्रतिपादन तथा ध्वनि के भेदों का निरूपण।

अष्टम मयूख- गुणीभूतव्यंग्यनिरूपण- गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेदों का विवेचन।

नवम मयूख- लक्षणा निरूपण- इस मयूख में लक्षणा शक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

दशम मयूख- अभिधानिरूपण- अभिधा शक्ति की विवेचना इसमें हुई है।

चन्द्रालोक ग्रन्थकी सुगम शैली के कारण ही परवर्ती आचार्य अप्पय दीक्षित ने इसको अपने ग्रन्थ का उपजीव्य बनाया तथा जयदेव के ऋण को स्वीकार भी किया।

चन्द्रालोक की टीकाएं- चन्द्रालोक की सरल सुबोध शैली से आकृष्ट अनेक विद्वानों ने इस पर टीकाएं लिखी।

1. शरदागम टीका- प्रद्योतन भट्टाचार्य नामक महान् विद्वान ने चन्द्रालोक पर यह टीका लिखी थी। इसकी रचना का समय 1583 ईस्वी माना जाता है।

2. रमा टीका- वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 17वीं शती में इसकी रचना की।

3. सुधा या राकागम टीका- इस टीका की रचना विश्वेश्वर भट्ट नामक विद्वान ने 17वीं शती ईस्वी के उत्तरार्ध में की थी। इनको गागाभट्ट नाम से अधिक जाना जाता है।

उपर्युक्त तीनों टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। तीन और टीकाएं हस्तलिखित रूप में प्रात हैं- वाजचन्द्र कृत टीका; शारदशर्वरी टीका; प्रदीपिका या दीपिका टीका।

विद्याधर

''अब तक हमने देखा है कि साहित्यशास्त्र के ऊपर सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम भारत के ठेठ उत्तरी भाग कश्मीर में हुआ। साहित्यशास्त्र के 2000 वर्षों के इतिहास में बारहवीं शती में हुए रुय्यक तक लभगग 1400 वर्ष साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रधान केन्द्र कश्मीर रहा है। यह भारत का उत्तरी विद्याकेन्द्र था। इसके बाद गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य और पूर्व का बंगराज्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के केन्द्र बने। एकावलीकार विद्याधर की साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र दक्षिण भारत में पहुंच गया। विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ये सब दक्षिण भारत की विभूतियां है जिन्होंने अलंकारशास्त्र के साहित्यनिर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया है।''

विद्याधर ने **एकावली** नामक अलंकारशात्रीय ग्रन्थ की रचना की जिसमें काव्य के लगभग सभी प्रमुख तत्त्वों का विवेचन हुआ है। विद्याधर के समय निर्धारण में कोई विवाद नहीं है। स्वयं विद्याधर ने लिखा है कि उन्होंने एकावली के सारे उदाहरणों की रचना अपने आश्रयदाता उत्कलनरेश नरसिंहदेव की स्तुति रूप में की है। उन्होंने अपने इस उदाहरण श्लोकों को स्वयं ही 'चाटुश्लोक' कहा है-

एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्।।

नरसिंह नाम के दो उत्कलनरेश हुए। केसरी नरसिंह (1282-1307 ईस्वी) तथा प्रतापसिंह नरसिंह (1307-1327 ईस्वी)। अत: विद्वानों ने विद्याधर का समय 13वीं शती का अन्त और चौदहवीं शती का प्रारम्भिक भाग माना है। इसके

चन्द्रालोक की टीकाएं- चन्द्रालोक की सरल सुबोध शैली से आकृष्ट अनेक विद्वानों ने इस पर टीकाएं लिखी।

1. शरदागम टीका- प्रद्योतन भट्टाचार्य नामक महान् विद्वान ने चन्द्रालोक पर यह टीका लिखी थी। इसकी रचना का समय 1583 ईस्वी माना जाता है।

2. रमा टीका- वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 17वीं शती में इसकी रचना की।

3. सुधा या राकागम टीका- इस टीका की रचना विश्वेश्वर भट्ट नामक विद्वान ने 17वीं शती ईस्वी के उत्तरार्ध में की थी। इनको गागाभट्ट नाम से अधिक जाना जाता है।

उपर्युक्त तीनों टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। तीन और टीकाएं हस्तलिखित रूप में प्रात हैं- वाजचन्द्र कृत टीका; शारदशर्वरी टीका; प्रदीपिका या दीपिका टीका।

विद्याधर

''अब तक हमने देखा है कि साहित्यशास्त्र के ऊपर सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम भारत के ठेठ उत्तरी भाग कश्मीर में हुआ। साहित्यशास्त्र के 2000 वर्षों के इतिहास में बारहवीं शती में हुए रुय्यक तक लभगग 1400 वर्ष साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रधान केन्द्र कश्मीर रहा है। यह भारत का उत्तरी विद्याकेन्द्र था। इसके बाद गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य और पूर्व का बंगराज्य साहित्यिक प्रवृत्तियों के केन्द्र बने। एकावलीकार विद्याधर की साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र दक्षिण भारत में पहुंच गया। विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ये सब दक्षिण भारत की विभूतियां है जिन्होंने अलंकारशास्त्र के साहित्यनिर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया है।''

विद्याधर ने **एकावली** नामक अलंकारशात्रीय ग्रन्थ की रचना की जिसमें काव्य के लगभग सभी प्रमुख तत्त्वों का विवेचन हुआ है। विद्याधर के समय निर्धारण में कोई विवाद नहीं है। स्वयं विद्याधर ने लिखा है कि उन्होंने एकावली के सारे उदाहरणों की रचना अपने आश्रयदाता उत्कलनरेश नरसिंहदेव की स्तुति रूप में की है। उन्होंने अपने इस उदाहरण श्लोकों को स्वयं ही 'चाटुश्लोक' कहा है-

एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्।।

नरसिंह नाम के दो उत्कलनरेश हुए। केसरी नरसिंह (1282-1307 ईस्वी) तथा प्रतापसिंह नरसिंह (1307-1327 ईस्वी)। अत: विद्वानों ने विद्याधर का समय 13वीं शती का अन्त और चौदहवीं शती का प्रारम्भिक भाग माना है। इसके

अतिरिक्त इस समय के लिए एक और पुष्ट प्रमाण है। मल्लिनाथ ने 'एकावली' पर 'तरला' नामक टीका लिखी थी और मल्लिनाथ का समय 14वीं शती का अन्तिम भाग है अत: विद्याधर मल्लिनाथ से पूर्व ही हुए थे।

'एकावली' ग्रन्थ की रचना में विद्याधर ने मम्मट के काव्यप्रकाश और रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का अत्यधिक आश्रय लिया है। एकावली में आठ उन्मेष (अध्याय) हैं, जिसमें विषय प्रतिपादन का क्रम इस प्रकारहै-

प्रथम उन्मेष- काव्य के हेतु तथा स्वरूप का निरूपण।

द्वितीय उन्मेष- वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक शब्दों; वाच्य, लक्षण, व्यंग्य, अर्थों; अभिधा, लक्षणा, व्यंजना वृत्तियों का पर्यालोचन।

तृतीय उन्मेष- ध्वनिभेदों का विवेचन।

चतुर्थ उन्मेष- गुणीभूतव्यंग्य काव्य की विवेचना।

पंचम उन्मेष- गुणत्रय-प्रसाद, ओज, माधुर्य की विवेचना तथा वैदर्भी, गौडी, पांचाली रीतियों का स्वरूप कथन।

षष्ठ उन्मेष- काव्य दोषों का निरूपण।

सप्तम उन्मेष- शब्दालंकारों का स्वरूप।

अष्टम उन्मेष- अर्थालंकारों का निरूपण।

टीकाएं- एकावली के ऊपर मल्लिनाथ की लिखी **तरला टीका** ही एकमात्र टीका है। मल्लिनाथ ने अन्य काव्यों की टीकाओं में भी प्राय: 'एकावली' से ही उदाहरण लिए हैं।

विद्यानाथ

विद्यानाथ के अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' की प्रसिद्धि दक्षिण भारत में बहुत अधिक रही है। लेखक ने इसकी रचना अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश 'प्रतापरुद्र' की स्तुति के रूप में की है। ''प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वर्तमान वारंगल) थी। इन्होंने यादवंशी राजा सेवण (देवगिरि का राजा रामदेव 1271-1309) को पराजित किया था। इससे सिद्ध है कि प्रतापरुद्र 13वीं शताब्दी के अन्त में तथा 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुए थे। इनके शिलालेख भी 1298-1317 ई. तक में उपलब्ध होते हैं। विद्यानाथ का भी यही समय मानना चाहिए।''

विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ को बहुत कुछ विद्याधर की शैली पर लिखा है। उन्हीं की भांति काव्य के विभिन्न विषयों के निरूपण में मम्मट का अनुकरण किया है और अलंकारों के प्रतिपादन में भी विद्याधर की भांति रुय्यक के ग्रन्थ को आधार बनाया है। विद्याधर की भांति ही विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता की प्रति चाटुश्लोकों

की रचना करके इन्हें उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। अन्य ग्रन्थों के समान इसमें भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण- ये तीन भाग हैं। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण (अध्याय) हैं, जिनमें काव्य के विभिन्न अंगों के साथसाथ नाट्यांगों का भी पूरा विवरण प्राप्त हो जाता है। नौ प्रकरणों में क्रमशः, नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार और मिश्रालंकार विषयों का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

टीकाएं- मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के ऊपर **'रत्नार्पण'** नामक अत्यन्त विद्वतापूर्ण टीका लिखी जिसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों के नाम और ग्रन्थों के उद्धरण प्राप्त होते हैं।

विश्वनाथ कविराज

संस्कृत अलंकारशास्त्र के अध्येता छात्रों की दृष्टि से सरल सुबोध शैली में लिखा गया 'साहित्यदर्पण' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके रचयिता विश्वनाथ कविराज थे। विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थों में स्वयं ही अपने परिचय का संकेत कर दिया है। उसके अनुसार इनके प्रपितामह नारायण ने कलिंगनरेश नरसिंहदेव (1270-1303 ईस्वी) की राजसभा में शास्त्रार्थ किया था। नारायण ने अलंकारशास्त्र पर एक ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे ग्रन्थ में विश्वनाथ ने नारायण को अपना पितामह कहा है। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर भी कवि और विद्वान् थे। चन्द्रशेखर ने भी ग्रन्थों की रचना की थी; जिनमें से विश्वनाथ ने 'भाषार्णव' और 'पुष्पमाला' का उल्लेख साहित्यदर्पण में किया है और उनके अनेक श्लोकों को भी उद्धृत किया है।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में स्वयं को 'सन्धिविग्रहिक' तथा 'अष्टादशभाषा वारविलासिनी भुजंग' कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि विश्वनाथ अठारह भाषाओं के ज्ञाता थे और किसी राज्य के विदेशमंत्री थे किन्तु विश्वनाथ ने उस देश का उल्लेख नहीं किया है।

विश्वनाथ के समय के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। (1) विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का उल्लेख किया है- "अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः" (4/14)। इस सुल्तान का शासनकाल 1296 ईस्वी से 1316 ईस्वी तक रहा। (2) साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। यह प्रतिलिपि संवत् 1440 अर्थात्, 1384 ईस्वी में की गई थी। इन बाह्य एवं अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर विश्वनाथ कविराज का समस चौदहवीं शती ईस्वी निश्चित होता है।

विश्वनाथ केवल काव्यशास्त्रीय आचार्य ही नहीं थे अपितु प्रतिभाशाली कवि भी थे। इनकी काव्य रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं; किन्तु उनके उद्धरण काव्य के नाम

के साथ साथ साहित्यदर्पण में उद्धृत हैं। विश्वनाथ का प्रसिद्धतम और मुख्य ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं- कारिका, वृत्ति एवं उदाहरण। विश्वनाथ ने कहीं कहीं कारिकाओं में प्राचीन आचार्यों के शब्दों अथवा पदों को ग्रहण कर लिया है, किन्तु वृत्तिभाग के रचयिता विश्वनाथ ही हैं। उदाहरण कुछ तो विश्वनाथ की स्वरचित कृतियों से हैं तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों से संकलित हैं। साहित्यदर्पण में दस परिच्छेद हैं तथा उनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है।

प्रथम परिच्छेद- काव्यस्वरूपनिरूपण- विश्वनाथ ने सर्वप्रथम चतुर्वर्ग प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन बता कर फिर मम्मट के काव्यलक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का प्रतिपद खण्डन किया है तत्पश्चात् अपने काव्य लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की स्थापना की है। इसी परिच्छेद में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि रस का अपकर्ष करने वाले काव्य दोष हैं और गुण, अलंकार तथा रीति रस का उत्कर्ष करते हैं।

द्वितीय परिच्छेद- वाक्यस्वरूपनिरूपण- वाक्य एवं पद के लक्षण के उपरान्त अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्दशक्तियों का भेदोपभेद सहित विस्तृत विवेचन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद- रसादिनिरूपण- रसनिष्पत्ति के सुन्दर विवेचन के पश्चात्, विभाव, नायक भेद, नायक सहायक, नायक के सात्त्विक गुण, नायिका भेद, नायिका-अलंकार, तथा विभिन्न रसों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद- ध्वनिगुणीभूतव्यंग्याख्यकाव्यभेदनिरूपण- इस परिच्छेद में विश्वनाथ ने काव्य के भेदों-ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्य के स्वरूप और भेदों का विस्तृत विवेचन किया है। मम्मट के तीसरे काव्यभेद- चित्रकाव्य को विश्वनाथ ने काव्य ही नहीं माना है।

पंचम् परिच्छेद- व्यंजनाव्यापारस्थापन- इस परिच्छेद में व्यंजनावृत्ति की स्थापना की गई है। ''विश्वनाथ ने इस प्रकरण में एक नई उद्भावना भी की है। व्यंग्य अर्थ का बोध कराने वाली व्यंजना वृत्ति जब रस की अभिव्यक्ति कराती है तो वह रसना वृत्ति कहलाती है।'' (5/5)

षष्ठ परिच्छेद- दृश्यश्रव्यकाव्य निरूपण- छठे परिच्छेद में अधिकांशतः नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का प्रतिपादन है। इस परिच्छेद के विषयविवेचन में विश्वनाथ ने दशरूपक का बहुत अनुकरण किया है। रूपक-उपरूपक भेदों, सभी नाटकीय तत्त्वों, महाकाव्य, खण्डकाव्य, कोष, गद्य, कथा, आख्यायिका, चम्पू, विरुद, करम्भक आदि के स्वरूप का विस्तृत निरूपण हैं।

सप्तम परिच्छेद- दोष निरूपण- इस परिच्छेद के विषय प्रतिपादन में विश्वनाथ ने बहुत कुछ काव्यप्रकाशकार का अनुकरण किया है। दोष का स्वरूप कथन करने के पश्चात् पांच प्रकार के दोष- पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत- तथा उनके भेदोपभेदों की सोदाहरण विवेचना की गई है।

अष्टम परिच्छेद- गुणविवेचन- सर्वप्रथम गुण के स्वरूप का कथन करके तीन गुणों- माधुर्य, ओज, प्रसाद के स्वरूप तथा उनसे सम्बद्ध रसों का प्रतिपादन करके प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित दस गुणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीन गुणों में प्रदर्शित किया गया है।

नवम परिच्छेद- रीतिविवेक- इस परिच्छेद में रीति का स्वरूप वर्णन करके चार प्रकार की रीतियों- वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटिका (लाटी) के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

दशम परिच्छेद- इस परिच्छेद में काव्य के अलंकारों का विवेचन है। अलंकार के स्वरूप और काव्य में अलंकार की उपयोगिता निरूपित करने के पश्चात् प्रथमतः सात शब्दालंकारों का विवेचन है। तदनन्तर 75 अर्थालंकारों के लक्षण, भेद और उदाहरण देकर उनके मिश्रण-संसृष्टि तथा संकर का निरूपण किया गया है। इस परिच्छेद के विषय प्रतिपादन में आचार्य रुय्यक का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

विश्वनाथ कविराज के 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ का वैशिष्ट्य अनेकविध है-

- यह ग्रन्थ अपनी सरलता, बोधगम्यता तथा व्यापकता के कारण पण्डितों और जिज्ञासुओं से एक सा लोकप्रिय हुआ। डॉ. सत्यव्रतसिंह के शब्दों में "काव्यप्रकाश की दुरूहता से लोग घबरा जाते हैं, परन्तु 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता के कारण काव्यप्रेमी को भी आकृष्ट करता है।"
- एक ही ग्रन्थ में सभी काव्यतत्त्वों और नाट्यविषयों का विवेचन होने के कारण यह ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण बन गया है। इससे ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई।
- **टीकाएं-** लोकप्रिय होने पर भी 'साहित्यदर्पण' पर टीकाएं कम ही लिखी गई। इस ग्रन्थ की पांच टीकाओं के संकेत प्राप्त होते हैं।

1. लोचन टीका-(प्रकाशित)- यह टीका सारगर्भित, प्रसंगानुकूल तथा संक्षिप्त है। इसकी रचना विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने ही की थी।

2. विवृत्ति टीका- (प्रकाशित)- 1701 ईस्वी में रामचरण तर्कवागीश ने इस टीका की रचना की थी। यह टीका विस्तृत भी है और उपयोगी भी।

3. टिप्पण टीका- (अप्रकाशित)- रचयिता मथुरानाथ शुक्ल।

4. प्रभा टीका- (अप्रकाशित)- रचयिता गोपीनाथ।

5. विज्ञप्रिया टीका- (प्रकाशित)- यह टीका बहुत विस्तृत तथा विद्वतापूर्ण है। इसके रचयिता माहेश्वर भट्ट थे।

आधुनिक समय में भी डॉ. पी.वी. काणे, पण्डित शालिग्राम शास्त्री, आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री तथा डॉ. सत्यव्रत सिंह ने 'साहित्यदर्पण' पर टीकाएं लिखी है।

भानुदत्त

अनेकानेक रचनाओं के लेखक के रूप में भानुदत्त को अपने समय में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में इनके दो ग्रन्थ 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' लोकप्रिय हुए।

रसमंजरी में इन्होंने अपना स्वल्प सा परिचय दिया है। किन्तु इनके समय के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद रहा है और कुछ भी निश्चय अद्यावधि नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् भानुदत्त का समय चौदहवीं शती निर्धारित करते हैं तो अन्य विद्वान् इनको सोलहवीं शती में स्थित मानते हैं।

भानुदत्त का रसमंजरी ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इसका मुख्य विषय नायक तथा नायिका भेदों का विवेचन एवं निरूपण करना है तथा ग्रन्थ के लगभग तीन चौथाई भाग में इसी का प्रतिपादन है। तदनन्तर सात्विक भावों, द्विविध शृंगार तथा विप्रलम्भ शृंगार की दस अवस्थाओं का विवेचन है।

अलंकारतिलक भी भानुदत्त की काव्यशास्त्रीय रचना है किन्तु यह ग्रन्थ अधिक मान्य नहीं हुआ। 'रसमंजरी' की लोकप्रियता का अनुमान उसकी टीकाओं से हो जाता है। इनमें ग्यारह टीकाओं के मिलने के प्रमाण मिले हैं; किन्तु उनमे से केवल दो ही टीकाएं प्रकाशित हुई हैं-

1. व्यंग्यार्थकौमुदी टीका- अनन्तभट्ट नामक विद्वान ने 1635 ईस्वी में यह टीका लिखी।

2. प्रकाश टीका- प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट इसके रचयिता हैं जिनका समय 18वीं शती का पूर्वार्ध है।

रसतरंगिणी में रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में आठ तरंग हैं जिनमें विषयप्रतिपादन निम्नलिखित रूप में है-

प्रथम तरंग- भावों और स्थायी भावों के स्वरूप एवं भेदों का निरूपण।

द्वितीय तरंग- विभावों का लक्षण एवं भेदोपभेद।

तृतीय तरंग- अनुभाव विवेचन।

चतुर्थ तरंग- आठ सात्त्विक भावों का निरूपण।

पंचम तरंग– व्यभिचारी भाव की परिभाषा एवं भेद प्रतिपादन।

षष्ठ तरंग– रस स्वरूप तथा शृंगार रस का सविस्तार निरूपण।

सप्तम तरंग– शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का विवेचना।

अष्टम तरंग– इस तरंग में पुनः स्थायी भावों, व्यभिचारी भावों तथा आठ रसों का निरूपण करके एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति तथा रसविरोध आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

'रसतंरगिणी' की भी नौ टीकाओं के संकेत मिलते हैं किन्तु केवल एक ही टीका प्रकाशित होकर उपलब्ध है।

1. नौका टीका– 1732 ईस्वी में गंगाराम जडी ने इसकी रचना की थी।

रूपगोस्वामी

वृन्दावन की विभूतिस्वरूप रूपगोस्वामी का अलंकारशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान हैं। ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे तथा वैष्णव मार्ग की पुष्टि हेतु इन्होंने विशाल साहित्य की रचना की। इनकी जन्मभूमि बंगाल थी, किन्तु चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा से वे वृन्दावन में आकर बस गए थे।

श्री रूपगोस्वामी के स्थितिकाल के निर्धारण में कोई भी कठिनाई नहीं है। दो प्रमुख ऐतिहासिक सूचनाएं उनके समय को स्पष्ट कर देती हैं–

1. श्री रुपगोस्वामी प्रारंभ में गौड़ देश के राजा हुसैनशाह के अत्यन्त विश्वस्त राजमन्त्री रहे। हुसैनशाह का राज्यारोहण 1493 ई. में हुआ था और उसका राज्यकाल 1493–1519 ईस्वी माना गया है।

2. रुपगोस्वामी चैतन्यदेव के साक्षात् शिष्य थे और चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव काल 1485 ईस्वी है। आचार्य रूपगोस्वामी हुसैनशाह और चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। इस आधार पर उनका समय पन्द्रहवीं शती के अन्त से सोलहवीं शती के उत्तरार्ध तक निश्चित होता है।

जैसा उल्लेख किया जा चुका है कि रूपगोस्वामी ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। दो ग्रन्थों में रुपगोस्वामी रचित ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। कृष्णदास कविराज ने अपने चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में दो स्थलों पर गोस्वामी रचित ग्रन्थों के नाम दिए हैं (चैतन्यचरितामृत–मध्यलीला 1/31–36; अन्त्यलीला 4/214...217)। रुपगोस्वामी के भतीजे जीवगोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' नामक ग्रन्थ पर 'लघुतोषिणी' नामक टीका लिखी थी। इस टीका में रूपगोस्वामी द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की एक सूची दी गई है। उससे ज्ञात होता है कि रुपगोस्वामी ने 17 ग्रन्थों का प्रणयन किया था। जिनमें आठ रचनाएं अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है–

नाट्यग्रन्थ- ललितमाधव, विदग्धमाधव,दानकेलिकौमुदी।

खण्डकाव्य- उद्धवसन्देश, हंसदूत।

साहित्यशास्त्र- भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, नाटकचन्द्रिका।

अन्य नौ रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं- लघुभागवतामृत, उत्कलिकामंजरी, स्तवमाला, पद्यावली, गोविन्दविरुदावली, मुकन्द मुक्तावली, आनन्दमहोदधि,मथुरा महिमा, अष्टादश छन्द।

रुपगोस्वामी के सारे ग्रन्थों में तीन ग्रन्थ अलंकार शास्त्र से सम्बद्ध हैं-

नाटकचन्द्रिका- इस ग्रन्थ में विविध नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन हुआ है। रुपगोस्वामी ने स्वयं इस ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है कि 'यह ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र और रसार्णवसुधाकर के आधार पर लिखा गया है और भरतमुनि के विरोध में होने के कारण साहित्यदर्पण की प्रक्रिया को इसमें ग्रहण नहीं किया गया है। (नाटक चन्द्रिका 1/1-2.)।

नाटकचन्द्रिका को लेखक ने अध्याय अथवा परिच्छेद में विभक्त नहीं किया है। आदि से अन्त तक क्रमपूर्वक कारिकाएं चलती गई हैं। उनमें भी विभिन्न नाट्यतत्त्व यत्र तत्र विकीर्ण हैं। किसी एक तत्त्व को जानने के लिए पूरे ग्रन्थ का अवलोकन पुनः पुनः करना आवश्यक हो जाता है।

भक्तिरसामृतसिन्धु- इस ग्रन्थ की रचना 1551 ईस्वी (1463 शाके) में हुई थी।

आचार्य रूपगोस्वामी एक रसवादी कवि थे जिन्होंने भक्ति को सर्वोपरि रस माना। उनका यह ग्रन्थ शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति रस का प्रतिपादन करता है। इसमें रूपगोस्वामी ने साहित्य शास्त्र में स्वीकृत सभी रसों को भक्तिरस में पर्यवसित किया है। इस ग्रन्थ के प्रणयन के मूल में कवि का सम्भवतः यही उद्देश्य था कि रस के समस्त उपकरणों को भक्ति में इस प्रकार घटित किया जाए कि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्ति को रसरूपता प्राप्त हो सके। इस ग्रन्थ के चार विभाग हैं तथा प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियां है। इनका विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

पूर्व विभाग- इसमें चार लहरियां है जिनमें भक्ति के सामान्य स्वरूप तथा लक्षण की विवेचना की गई है।

दक्षिण विभाग- इस विभाग में पांच लहरियां है जिनमें रस के अंगभूत विभावों, अनुभावों, व्यभिचारिभावों तथा सात्विक भावों का वर्णन किया गया है।

पश्चिम विभाग- इसमें पांच लहरियां हैं। इनमें भक्तिरस के विवेचनपूर्वक उसके पांच भेदों का निरूपण है। ये पांच भेद हैं- शान्त भक्ति रस, प्रीतभक्ति रस (दास्य भक्ति), प्रेयो भक्ति रस (सख्य भक्ति), वात्सत्य भक्ति रस तथा मधुर

भक्ति रस।

उत्तर विभाग- इस विभाग में नौ लहरियां है। जिसमें हास्य, अद्‌भुत, वीर करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक रसों का वर्णन तथा रसों के पारस्परिक विरोध तथ अविरोध का दिग्दर्शन कराया गया है।

इस ग्रन्थ पर जीवगोस्वामी ने 'दुर्गमसंगमिनी' नामक टीका लिखी।

उज्ज्वलनीलमणि- इस ग्रन्थ की दूसरी कारिका में ही रूपगोस्वामी ने कहा है कि 'पूर्वलिखित ग्रन्थ में भक्ति रस का संक्षिप्त विवेचन किया गया था। किन्तु यह विषय गूढ एवं रहस्यमय है, अतः इस ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन किया जाता है।' इस दृष्टि से उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ भक्तिरसामृत सिन्धु ग्रन्थ का मानों पूरक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सभी उदाहरण कृष्ण और उनके भक्तों से सम्बन्धित हैं।

उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ अध्याय आदि में विभक्त न होकर प्रसंगानुसार नायकभेद प्रकरण, नायक सहाय प्रकरण, हरप्रिया प्रकरण आदि भिन्न भिन्न प्रकरणों में विभाजित है। इसमें नायक तथा नायिका के भेदोपभेदों की परिभाषाएं, गुण, कार्यव्यापार एवं उदाहरण विस्तार से विवेचित हैं।

''उज्ज्वलनीलमणि में श्रृंगार रस का विस्तार से विवेचन करके उसी को भक्ति रस में परिकल्पित किया गया है। श्रृंगार रस का स्थायी भाव प्रेमा रति है, जिसके छह प्रकार हैं- स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव। जिस प्रकार इक्षु के छह पदार्थ- रस, गुड, खाण्ड, शर्करा, सिता और सितोपला होते हैं, उसी प्रकार प्रेम-विलास भी नेह आदि के भेदों से छह प्रकार के होते हैं।''

टीकाएं- उज्ज्वलनीलमणि पर दो टीकाएं प्राप्त होती हैं-

1. लोचनरोचनी टीका- रुपगोस्वामी के भतीजे जीवगोस्वामी ने यह टीका लिखी थी।

2. आनन्दचन्द्रिका अथवा उज्ज्वलनीलमणि-किरण- इसकी रचना विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 1696 ईस्वी में वृन्दावन में की थी।

अप्पय दीक्षित

अलंकारशास्त्रीय उत्तरवर्ती आचार्यों में अप्पय दीक्षित (अप्प दीक्षित अथवा अप्पय्य दीक्षित भी) का अपना वैशिष्ट्य है। ये दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे, किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विद्वान् थे। इन्हें 104 ग्रन्थों का रचयिता कहा जाता है, जिनमें से तीन ग्रन्थ अलंकार-शास्त्र से सम्बद्ध हैं- वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द।

अप्पय दीक्षित का समय विभिन्न प्रमाणों के आधार पर सोलहवीं शती का उत्तरार्ध और सत्रहवीं शती का पूर्वार्ध निश्चित किया गया है।

वृत्तिवार्तिक– यह लघुकाय ग्रन्थ दो परिच्छेदों में विभक्त है। नाम के अनुसार ही इसमें वृत्ति अर्थात् शब्दशक्तियों का वर्णन है। प्रथम परिच्छेद में अभिधा शक्ति का निरूपण है। अभिधा के तीन प्रकार बताए गए– रूढ़ि, योग एवं योगरूढि। द्वितीय परिच्छेद में लक्षणा-शक्ति का निरूपण है। प्रथमत: लक्षणा के दो भेद– शुद्धा तथा गौणी– बता कर उनके भेदोपभेदों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में व्यंजना शक्ति पर विचार न होने के कारण यह ग्रन्थ अपूर्ण सा प्रतीत होता है।

चित्रमीमांसा– यह एक प्रौढ़ ग्रन्थ है जिसमें अर्थालंकारों का वर्णन है। ग्रन्थकार ने उपमा का लक्षण और स्वरूप प्रतिपादित करते हुए प्राचीन आचार्यों के उपमा लक्षणों की आलोचना की। अप्पय दीक्षित ने इसमें उपमा को सभी साधर्म्यमूलक बाईस अलंकारों का आधार माना है। इसमें वे केवल बारह अलंकारों की विवेचना कर सके। अतिशयोक्ति अलंकार की विवेचना भी अधूरी रह गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय दीक्षित ने जानबूझकर इस ग्रन्थ को अधूरा छोड़ दिया था, क्योंकि 'चित्रमीमांसा' के अन्त में स्वयं उन्होंने लिखा है कि 'अधूरी चित्रमीमांसा' भी किसे आनन्दित नहीं करेगी?'

कुवलयानन्द– साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अप्पय दीक्षित की प्रसिद्धि का मुख्य आधार यही ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना जयदेव के चन्द्रालोक ग्रन्थ के आधार पर हुई। अलंकारों का अध्ययन करने के लिए कुवलयानन्द परम उपयोगी है।

अप्पय दीक्षित ने चन्द्रालोक से अर्थालंकारो के श्लोकों को लेकर उनकी विवेचना की, किन्तु अन्य ग्रन्थों से भी प्रचुर मात्रा में उदाहरण ग्रहण किए गए हैं। चन्द्रालोक के सौ अर्थालंकारों को अप्पय दीक्षित ने ग्रहण किया। अन्त में चौबीस अलंकार ऐसे भी दिए हैं जो जयदेव के चन्द्रालोक में नही हैं। किन्तु अप्पय दीक्षित ने इन चौबीस अलंकारों को भी जयदेव की शैली में ही प्रस्तुत किया है अर्थात् आधे श्लोक में अलंकार का लक्षण और आधे श्लोक में उदाहरण दिया है।

अलंकारों का निरूपण करने में अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द को मौलिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। इसका स्वरूप संग्रह ग्रन्थ जैसा है। तथापि अलंकारों को समझने के लिए यह बहुत उपयोगी है। सम्भवत: इसी कारण इस ग्रन्थ पर अनेकानेक टीकाएं लिखी गई।

कुवलयानन्द की टीकाएं–

1. **कारिकादीपिका टीका**– रचयिता आशाधर भट्ट, समय सत्रहवीं शती का

मध्य।

2. **अलंकार चन्द्रिका टीका**- लेखक वैद्यनाथ तत्सत्, समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध।
3. **अलंकार सुधा टीका**- रचयिता नागेश भट्ट, समय अठारहवीं शती का प्रथम चरण।
4. **रसिकरंजनी टीका**- लेखक गंगाधर, समय 1700 के लगभग।
5. **काव्यमंजरी टीका**- लेखक न्यायवागीश भट्टाचार्य।
6. **प्रभा टीका**- रचयिता गोपीनाथ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डित जगन्नाथ एवं अप्पय दीक्षित दोनों दक्षिण भारतीय थे, समकालीन थे तथा परस्पर प्रतिद्वन्दी किंवा विरोधी विद्वान् थे। दोनों के विरोध और द्वेष की अनेक कथाएं प्रचारित हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पण्डितराज अत्यन्त सम्माननीय हैं। काव्यशास्त्र की वृहत्त्रयी में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के साथ जगन्नाथ का '**रसगंगाधर**' भी नामित हैं, इसी से पण्डितराज के महत्व का अनुमान किया जा सकता है।

जगन्नाथ दक्षिण के तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। इनका जन्म दक्षिण भारत में अवश्य हुआ था किन्तु युवावस्था में ही ये दिल्ली आ गए थे। तत्कालीन मुगल सम्राट शाहजहां के वे कृपापात्र रहे और बहुत समय तक उनके दरबार में रहे- यह स्वयं जगन्नाथ ने लिखा है ''दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वय:''। शाहजहां ने जगन्नाथ की विद्वता से प्रभावित होकर उन्हें पण्डितराज की उपाधि दी थी। जगन्नाथ ने शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत का अध्ययन कराया था और दारा के गुणों के वशीभूत होकर 'जगदाभरण' नामक काव्य की रचना की थी। शाहजहां 1628 ई. में सम्राट बना था और 30 वर्ष राज्य करने के पश्चात् अपने ही पुत्र औरंगजेब के द्वारा बन्दी बना लिया गया था। 8 वर्ष बाद 1666 ईस्वी में बन्दीगृह में शाहजहां की मृत्यु हुई। अत: पण्डितराज जगन्नाथ का समय भी सत्रहवीं शती (1620-1670 ईस्वी) समझा जा सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ काव्यशास्त्री विद्वान् ही नहीं अपितु प्रतिभाशाली कवि भी थे। उन्होंने अनेकानेक काव्यों की भी रचना की; व्याकरण विषयक ग्रन्थ लिखा और काव्य शास्त्र के क्षेत्र में दो ग्रन्थो की रचना की- **चित्रमीमांसाखण्डन** तथा **रसगंगाधर**।

चित्रमीमांसा खण्डन- पण्डितराज ने ग्रन्थ के नाम के अनुरूप ही इसमें अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा ग्रन्थ का भरपूर खण्डन किया है।

रसगंगाधर- यह अत्यन्त प्रौढ़ तथा विद्वत्तापूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। सामान्य विद्वानों की तो बात ही छोड़ दें, आचार्यों में भी इस ग्रन्थ को पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। इस ग्रन्थ में दो आनन है जिनमें विषय प्रतिपादन इस प्रकार है-

प्रथम आनन- इस आनन में पूर्ववर्ती सारे काव्यलक्षणों का खण्डन करके काव्य का एक नवीन लक्षण "**रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**" प्रस्तुत किया गया है। काव्य के विभिन्न हेतुओं में केवल 'प्रतिभा' को ही मुख्य हेतु ठहराया गया है और काव्य के चार भेदों का कथन किया गया है- उत्तमोत्तम काव्य, उत्तम काव्य, मध्यम काव्य तथा अधम काव्य। तदनन्तर रस स्वरूप तथा रस भेद की विवेचनापूर्वक प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित सारे गुणों का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में किया गया है। इसी आनन में विभिन्न भावों का भी निरूपण है।

द्वितीय आनन- इस आनन में ध्वनि के भेदोपभेदों को निरूपित करके अभिधा और लक्षणा शक्तियों का विवेचन किया गया है। उसके पश्चात् अलंकार निरूपण प्रारंभ करके उपमा से लेकर उत्तर अलंकार तक 70 अलंकारों का वर्णन किया गया है। उत्तर अलंकार के पश्चात् यह ग्रन्थ अचानक ही समाप्त हो गया है, अतः यह ग्रन्थ अपूर्ण सा प्रतीत होता है। अपूर्णता का कारण स्पष्ट है कि सारे अलंकारों की विवेचना इसमें नहीं की जा सकी है।

टीकाएं- रसगंगाधर पर दो ही प्राचीन टीकाएं ज्ञात हो सकी हैं-

1. विषमपदी टीका-न इस टीका के लेखक का नाम ज्ञात है और न ही यह प्रकाशित हो सकी है।

2. गुरुमर्मप्रकाशिका टीका- प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट द्वारा रचित यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

पण्डितराज जगन्नाथ का वैशिष्ट्य

- जगन्नाथ अलौकिक पाण्डित्य के धनी विद्वान् थे। ग्रन्थ रचना में इनकी शैली अत्यन्त प्रौढ़ थी तथा विचार एवं स्वमत-स्थापन नितान्त मौलिक था।
- साहित्य के सभी तत्त्वों का स्पष्ट विवेचन किया।
- जगन्नाथ ने रसगंगाधर में सैद्धान्तिक मौलिकता प्रदर्शित की है,पूर्वाचार्यों की बंधी लीक पर वे नहीं चले। चाहे काव्य का लक्षण हो, अथवा काव्य का हेतु; चाहे काव्य के भेद हो अथवा गुणों का स्वरूप- सर्वत्र ही जगन्नाथ ने

पूर्वाचार्यों से अपने सैद्धान्तिक मतभेद नि:शंक होकर प्रगट किए और तर्कपूर्वक अपने पक्ष को सुदृढ़ता प्रदान की।

- गुणों को जगन्नाथ ने केवल रस का धर्म न मानकर शब्द, अर्थ, रचना और रस सभी का धर्म माना।
- काव्य रस के विवेचन में जगन्नाथ का मत पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं परिष्कृत रहा। स्थायी भाव को स्थायी भाव क्यों कहा जाता है? रस नौ ही क्यों है? श्रृंगार को संयोग तथा विप्रलम्भ- इन दो भेदों में क्यों और किस आधार पर विभक्त किया गया है- आदि प्रश्नों को पण्डितराज ने बहुत सरलता से स्पष्ट कर दिया है।
- पाण्डित्य के साथ साथ जगन्नाथ ललित कवि भी थे। अनेक काव्यों की रचना तो उन्होंने की ही; रसगंगाधर में सारे उदाहरण भी पण्डितराज ने स्वरचित ही दिए हैं और अपने इस कार्य के लिए गर्वोक्ति भी की है- 'मैंने अपने काव्य को स्वरचित नवीन उदाहरणों से युक्त किया है, दूसरों के पद्यों से नहीं। कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न मृग के द्वारा क्या कभी पुष्पों की गन्ध मन से भी ग्रहण की जाती है?'

पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय

अलंकार शास्त्र के विद्वानों की परम्परा में विश्वेश्वर पाण्डेय सम्भवत: अन्तिम विद्वान् हैं। ये उत्तरप्रदेश के अलमोड़ा जिले के अन्तर्गत 'पाटिया' ग्राम के निवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता लक्ष्मीदत्त पाण्डेय भी संस्कृत के उद्‌भट विद्वान थे तथा वृद्धावस्था में अपने ग्राम से काशी आ गए थे। काशी में ही उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई और विश्वनाथ बाबा के इस वरदान का नाम उन्होंने विश्वेश्वर रखा। विश्वेश्वर पाण्डेय का समय अठारहवीं शती का प्रारम्भ माना गया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय प्रकाण्ड पण्डित भी थे और सहृदय कवि भी। इनके पिता ही इनके गुरु रहे। अपने ग्रन्थों में विश्वेश्वर ने गुरु के रूप में ही पिता की वन्दना की है। विश्वेश्वर पाण्डेय ने काव्यशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, आदि अनेक विषयों पर रचनाएं लिखी। विश्वेश्वर लिखित 'मन्दारमंजरी' के टीकाकार श्री तारादत्त पन्त ने उनकी लिखित 20 रचनाओं की सूची दी है, जिनमें कुछ प्रकाशित हो गई और कुछ अप्रकाशित हैं।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विश्वेश्वर ने पांच ग्रन्थों की रचना की-

1. अलंकार मुक्तावली- इस ग्रन्थ में 59 कारिकाएं है जिनमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं तथा विवेचना बहुत कम है।

2. कवीन्द्रकण्ठाभरण– इसमें शब्दालंकारों तथा चित्रकाव्य का प्रामाणिक प्रतिपादन हैं।

3. अलंकारप्रदीप– इस ग्रन्थ में 119 सूत्र हैं जिनमें अलंकारों का लक्षण दिया गया है। तत्पश्चात् सूत्र की थोड़ी सी सरल व्याख्या करके लक्षण को उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

4. रसचन्द्रिका– इस ग्रन्थ में नायक–नायिका भेद के स्वरूप को लक्षण और नवीन उदाहरणों से प्रतिपादित किया गया है तथा रस का विस्तृत विवेचन है।

5. अलंकारकौस्तुभ– विश्वेश्वर क़ा यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ''इस ग्रन्थ में लेखक ने रस, रीति, गुण, दोष आदि की बहुत विस्तृत एवं गहन विवेचना की है। इस विवेचना में वे मम्मट, जगन्नाथ आदि से भी आगे बढ़ गए हैं। इनका यह विवेचन नव्यन्याय के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता अलंकारों का विवेचन है। इसमें लेखक ने स्थान स्थान पर अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ के मतों का खण्डन किया है। इसकी विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें उपमा के स्वरूप और भेदों की विवेचना ही 150 पृष्ठों में पूरी हुई है।.... अलंकारों के निरूपण में इस ग्रन्थ में विश्वेश्वर ने विभिन्न मतों की आलोचना की है।''

'अलंकार कौस्तुभ' का एक उद्देश्य यह भी था कि अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या रोकी जाए इसलिए उन्होंने मम्मट के द्वारा वर्णित इकसठ अलंकारों का ही वर्णन किया और अन्य अलंकारों का उन्हीं में अन्तर्भाव दिखाया।

विश्वेश्वर पण्डित के पश्चात् काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कोई भी सर्वमान्य विद्वान् नहीं हुआ। अत: अलंकारशास्त्र के मान्य आचार्यों में विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलंकारिक माने जा सकते हैं।

OOO

द्वितीय खण्ड
रस विचार

खण्ड I में रससम्प्रदाय के अन्तर्गत रस पर किंचित विचार किया जा चुका है- यथा रस का अर्थ, काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में रस के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत, भरत के रससूत्र की प्रसिद्ध चार व्याख्याएं, रस निष्पत्ति हेतु विभिन्न भाव, रससंख्या आदि। उसी स्थल पर श्रृंगारादि विभिन्न रसों का स्वरूप भी अत्यन्त संक्षिप्त रूपमें प्रस्तुत कर दिया गया था। किन्तु काव्य या नाट्य में रस का महत्त्व सर्वातिशायी है। काव्य का चरम लक्ष्य ही रसनिष्पत्ति कराना है। आचार्य भरत ने रस के इसी अत्यधिक महत्त्व को रेखांकित करने के लिए कहा था- **''न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते''**- सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रस की महत्ता को सर्वतोभावेन स्वीकार किया है। मम्मट ने भी इसी सरणि का अनुगमन करते हुए विभिन्न भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति का कथन किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध जम कर दही बन जाता है। उसी प्रकार विभाव,अनुभाव और व्यभिचारी भावों से प्रेरित होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है। अतः इस अध्याय में प्रत्येक रस के स्वरूप का सोदाहरण विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

श्रृंगार रस- सभी रसों में श्रृंगार रस को रसराज कहा गया है। इसका कारण है कि '' श्रृंगार में दो आलम्बन (नायक-नायिका) होते हैं, सभी अनुभाव हो सकते हैं और सभी संचारी भाव हो सकते हैं।'' आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा संचारी भाव का आश्रय श्रृंगार से भिन्न कर देना चाहिए।

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपंचादशी हि भावाः
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम।। दशरूपक 4/49

श्रृंगार रस का क्षेत्र सम्पूर्ण जीव-जगत् तक विस्तृत है। इस रस का **स्थायी भाव रति** है। मनोहर स्थान, रमणीय ऋतु, संगीत, सुन्दर वेष आदि के सेवन से एक दूसरे पर अनुरक्त युवक और युवती को जो 'प्रमोद' होता है, वही रतिभाव है और यह रति अंगों की मधुर चेष्टाओं से परिपुष्ट होने पर श्रृंगार रस कहलाती है। (दशरूपक 4/48)। हृदय को आकृष्ट कर लेने वाले काव्य के वर्णनों से सहृदय सामाजिक के हृदय में होने वाली आनन्दानुभूति ही श्रृंगार रस है। उदाहरण-

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।। अमरुक शतक

अर्थात्, वासकक्ष को सूना देखकर, शयन से तनिक उठकर, कुछ क्षणों तक नींद के बहाने (चुप) सोए पति के मुख को देर तक भली प्रकार देखकर, विश्वासपूर्वक (पतिमुख का) चुम्बन लेकर, गण्डस्थली को पुलकित देखकर, लज्जा से झुके मुख वाली वह नवयौवना हंसते हुए पति के द्वारा देर तक चुम्बित हुई।

सम्भोगश्रृंगार के उपर्युक्त उदाहरण में रस का आलम्बन नायक है; सूना वासकक्ष उद्दीपन है; मुख देखना, चुम्बन आदि अनुभाव हैं; लज्जा, हास, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं तथा उन सबसे पुष्ट रति भाव ही श्रृंगार रस की चर्वणा करा रहा है।

श्रृंगार के भेद- आचार्य भरत तथा अधिकांश काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने श्रृंगार रस के दो भेद कहे-सम्भोग श्रृंगार तथा विप्रलम्भ श्रृंगार। किन्तु दशरूपककार ने श्रृंगार के तीन भेदों का कथन किया-

अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा (दशरूपक 4/50)

अयोग श्रृंगार- जब युवक युवती के चित्त में एक दूसरे के प्रति अनुराग तो हो किन्तु कारणवश उनका परस्पर सम्मिलन न हो सके, तो वहां अयोग श्रृंगार होता है। सम्मिलन न हो सकने का यह कारण दो प्रकार का हो सकता है-

1. परतन्त्रता के कारण- यह परतन्त्रता भी कई प्रकार की हो सकती है- दूर देश में स्थित होने के कारण, माता-पिता की अधीनता के कारण अथवा दैव (भाग्य) के कारण।

रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन और सागरिका (रत्नावती) में अयोग श्रृंगार है। कुमारसम्भव पंचम सर्ग में दैव अथवा भाग्य के कारण, शिव प्रतिज्ञा के फलस्वरूप पार्वती शिव का मिलन न हो पाने से अयोग श्रृंगार की स्थिति है-

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सवाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यकाः वनान्तसंगीतसखीररोदयत्।।

अर्थात्- शिव के चरित वर्णन युक्त शब्दों वाले पदों को गद्‌गद् आंसू भरे कण्ठ से टूटे फूटे (गाने) के द्वारा यह (पार्वती) बहुत बार वनप्रदेश की अपनी संगीत सखियों किन्नरराज कन्याओं को रुला दिया करती थी।

अयोग शृंगार की दस अवस्थाएं होती है, जिनमें नायक या नायिका की दशा क्रमशः अधिकाधिक दुरवस्था ही बनती जाती है-

अभिलाषा	-	मिलन की उत्कट इच्छा
चिन्तन-	-	निरन्तर प्रिय का ही चिन्तन करते रहना
स्मृति	-	प्रिय की आकृति, वचन आदि का स्मरण करते रहना।
गुणकथा	-	प्रिय के गुणों की कथा गान आदि।
उद्वेग	-	चित्त का घबराते रहना।
प्रलाप	-	असम्बद्ध अलक्ष्य वचन बोलना।
उन्माद	-	पागलपन की सी स्थिति हो जाना, चेतन-अचेतन को न पहचानना।
संज्वर	-	चिन्ता, उन्माद आदि के कारण ज्वरग्रस्त हो जाना,
जडता	-	स्तब्धता, कुछ भी समझ न आना, अंगों तथा मन की हीन चेष्टाएं।
मरण	-	मृत्यु

आचार्यों ने अयोग शृंगार की मात्र दस अवस्थाओं का कथन किया किन्तु महाकवियों की रचनाओं में औत्सुक्य, निर्वेद, ग्लानि आदि और अनेक अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं।

संयोग शृंगार- दशरूपककार ने संभोग शृंगार का वर्णन इस प्रकार किया है-

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोग मुदान्वितः।। 4/69

जब रम्य स्थान, ऋतु में परस्पर अनुरक्त नायक नायिका स्पर्श, आलिंगन, चुम्बनादि से प्रसन्नचित्त साथ-साथ होते हैं तब वह संयोग शृंगार होता है यथा-

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत।।

उत्तररामचरितम् 1/27

अर्थात्- पारस्परिक अनुराग के योग से कपोलों को सटाए हुए,बिना क्रम के ही मन्द मन्द कुछ बोलते हुए, दृढ़ आलिंगन में फंसी भुजाओं वाले हम दोनों की सम्पूर्ण रात्रि बिना प्रहर जाने ही बीत जाया करती थी।

विप्रयोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार- एक दूसरे के प्रति अत्यधिक प्रेमासक्त एवं विश्वस्त नायक नायिका का कारणवश वियुक्त हो जाना विप्रयोग शृंगार होता है।

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्त्रम्भयोः......। दशरूपक 4/57

नायक नायिका एक दूसरे से अत्यधिक प्यार भी करते हो, एक दूसरे के प्रति दृढ़ विश्वास भी हो, फिर भी कारणवश परस्पर वियुक्त हो जाएं तो वहां विप्रयोग या विप्रलम्भ शृंगार होता है।

विप्रयोग श्रृंगार के लिए मम्मट आदि कुछ आचार्यों ने पांच कारण गिनाए हैं-

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुकः पंचविधः।

काव्यप्रकाश 4/32

किन्तु धनंजय ने दशरूपक में विप्रलम्भ के दो ही हेतु कहे हैं-

---- **द्विविधः। मानप्रवासभेदेन....।** दशरूपक 4/57-58.

मान तथा प्रवास----- धनंजय के इन्हीं दो हेतुओं में मम्मट के चार हेतु अन्तूर्भत हो जाते हैं तथा 'अभिलाष' का अन्तर्भाव धनजंय के अयोग श्रृंगार में हो जाता है।

दशरूपक के अनुसार विप्रलम्भ का हेतु 'मान' भी दो प्रकार का होता है-

प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान।

प्रणयमान- परस्पर अत्यधिक प्रेम करने पर भी नायक या नायिका या दोनों के कोपयुक्त हो जाने पर प्रणयमान होता है। भवभूति के उत्तरामचरितम् में प्रणयमान का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है। वनदेवी वसन्ती पंचवटी में आए हुए राम को पुरानी बातों का स्मरण करा रही है-

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः।
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामांजलिः।। 3/37

अर्थात्-इसी लतागृह में आप उसके आने के मार्ग पर दृष्टि लगाए (बैठे) थे; गोदावरी नदी के बालुकातट पर हंसों के साथ कौतुक करते हुए उसको (सीता को) बहुत देर हो गई थी। आते हुए उस (सीता) के द्वारा आपको व्यथित चित्त देखकर घबराहट में उसने श्वेत कमल की कली के सदृश मनोहर प्रणामांजलि बांध ली थी।

ईर्ष्यामान- अपने प्रिय को किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त सुनकर, अनुमान करके अथवा स्वयं देखकर स्त्रियों में उत्पन्न क्रोधभाव ईर्ष्याभाव कहलाता है। श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट ये ईर्ष्यामान क्रमशः अधिक से अधिक कठिन होते जाते हैं तथा नायक छः उपायों से ईर्ष्यामान को दूर कर सकता है- (दशरूपक 4/61)

1. **साम**- मधुर और प्रिय वचन कहकर मना लेना;
2. **भेद**- नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला कर उनसे प्रिया को मना लेना।
3. **दान**- किसी प्रिय घटना अथवा उत्सव आदि के बहाने से सुन्दर वस्त्र-आभूषण आदि देकर नायिका को प्रसन्न कर लेना;
4. **नति**- 'मुझसे गलती हुई, मुझे माफ कर दो'- ऐसा कहकर नायिका के पैरों पर गिर कर उसको मना लेना;
5. **उपेक्षा**- यदि उपर्युक्त चारों उपायों से भी प्रिया का ईर्ष्यामान दूर न हो तो उसके प्रति उदासीनता का भाव ग्रहण कर लेना उपेक्षा है। इस उदासीनता से आहत होकर नायिका ईर्ष्यामान त्याग सकती है।
6. **रसान्तर**- शीघ्रता (हड़बड़ी), भय अथवा हर्ष के द्वारा नायिका में कोई अन्य रस की उत्पत्ति द्वारा मान शान्त करा देना।

प्रवास- **मान-ईर्ष्यामान** के अतिरिक्त विप्रयोग का अन्य कारण प्रवास है जहां नायक एवं नायिका भिन्न भिन्न स्थलों या देशों में हों। यह प्रवास भी कार्यवशात्, सम्भ्रमवशात् अथवा शापवशात् तीन प्रकार से हो सकता है। प्रवास विप्रयोग में नायक-नायिका दोनों में ही एक दूसरे को स्मरण करके, अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता, प्रलाप आदि अनुभाव होते हैं-

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता।
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता।।

दशरूपक 4/64-65

सम्भ्रमवश उत्पन्न हुआ प्रवास विप्रयोग दैवी उपद्रव से अथवा मनुष्यकृत विप्लव से हो जाता है। कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक में पुरुरवा एवं उर्वशी का प्रवास विप्रयोग दैवी उपद्रव के कारण होता है। **शापज विप्रयोग** में नायक तथा नायिका एक दूसरे के समीप तो हैं किन्तु शाप के कारण या स्वरूप बदल जाने से वे एक दूसरे को जान या पहचान नहीं पाते। बाणभट्ट की कादम्बरी में शाप के कारण पुण्डरीक वैशम्पायन के रूपमें कादम्बरी के पास है किन्तु वह उसे पहचान नहीं पाती,अतः वह शापज वियोग का उदाहरण है।

आचार्य भरत ने विभिन्न रसों के देवताओं का भी कथन किया है। (भावप्रकाशन

(3/68) ने उसी का अनुसरण करते हुए विष्णु को शृंगार रस का देवता कहा है- 'शृंगारो विष्णुदैवत्यो'। आचार्य अभिनवगुप्त ने यहां विष्णु का अर्थ कामदेव लिया है। 'वैष्णव धर्म के अनुसार भगवान् विष्णु चतुर्व्यूहात्मक है- (1) वासुदेव, (2) संकर्षण, (3) प्रद्युम्न और (4) अनिरुद्ध- व्यूह के ये चार अंग है। परमात्मा श्रीकृष्ण ही वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न अमितविक्रम है, वैसे ही कामदेव, कामपाल और कामी है, ऐसा विष्णु सहस्रनाम से भी सिद्ध होता है। यथा- 'अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः (श्लोक, 82), 'कामदेवः कामपालः कामी' (श्लोक 84)।''

शारदातनय पुनः कहते हैं कि शृंगार का आधार सुन्दरता है। सुन्दरता में उत्तम विष्णु है। अतः वे शृंगार के देवता है। विष्णु श्यामवर्णी है और शृंगार का वर्ण भी श्याम होता है।

हास्य रस- हास्य रस का स्थायी भाव हास है। स्वयं के अथवा किसी दूसरे के विकृत आकार, विकृत वाणी, तथा विकृत वेष आदि विभावों से परिपुष्ट हास स्थायी भाव हास्य रस कहलाता है।

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात् परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः।।

दशरूपक 4/75

आचार्यों ने हास्य रसके तीन भेद कहे हैं (भावप्रकाशन 3/50)

वाचिक हास्य- परिहासात्मक वचनों से प्रदर्शित हास्य वाचिक हास्य होता है।

नैपथ्यज हास्य- माला, आभूषण, वस्त्रों आदि को उल्टा सीधा या अस्थान में धारण करने से प्रदर्शित हास्य नैपथ्यज हास्य होता है।

आंगिक हास्य- स्वभावतः ही अथवा कपटपूर्वक जब अंगों से विकृत अभिनय दिखाया जाता है, तब वह परिपुष्ट हास्य आंगिक हास्य कहलाता है।

उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति पात्रों के अनुसार हास्य के छह भेद हैं-

1. स्मित- स्मित में नेत्र तनिक विकसित हो जाते हैं तथा ओंठ तनिक स्पन्दित होते हैं।

2. हसित- नेत्र विकास तथा अधर स्पन्दन के साथ जब दांत भी थोड़े थोड़े दिखें, तब हसित होताहै

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः।। साहित्यदर्पण 3/218.

उत्तम प्रकृति के व्यक्तियो में हास्य के उपर्युक्त दो भेद- स्मित तथा हसित पाए जाते हैं।

3. विहसित- नेत्र विकास, अधर स्पन्दन के साथ जब हंसी का मधुर शब्द भी हो तो वह हास्य का विहसित भेद है।

4. अवहसित- जब हंसते समय कन्धे और सिर भी हिलने लगे, तब उसे हास्य का अवहसित भेद कहते हैं। धनंजय ने इसी को उपहसित कहा है।

मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम्। साहित्यदर्पण 3/219

मधुरस्वरं विहसितं सशिरः कम्पमिदमुपहसितम्। दशरूपक 4/76

मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों में हास्य के विहसित और अवहसित भेद पाए जाते हैं।

5. अपहसित- हंसते हंसते आंखों में पानी आ जाना अपहसित कहलाता है।

6. अतिहसित- हंसते-हंसते शरीर में कम्पन होने लगे, इधर उधर हाथ पैर पटके जाएं तो वह हास्य का अतिहसित भेद होता है।

अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्तागं भवत्यतिहसितम्।। दशरूपक 4/77

नीच प्रकृति के व्यक्तियों में हास्य के, अपहसित और अतिहसित भेद पाए जाते हैं।

काव्यप्रकाश में हास्य रस का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है-

आकुंच्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसा प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।।

अर्थात्- उस वेश्या ने अपनी अपवित्र मुट्ठी बांधकर मेरे मन्त्रपूर्वक डाले जाते जल से पवित्र मस्तक पर उच्च स्वर में थूकते हुए प्रहार किया- हाय मैं तो मारा गया; इस प्रकार कहकर विष्णु शर्मा रो रहा है।

साहित्यदर्पण में हास्य का निम्नलिखित उदाहरण है-

गुरोर्गिरः पंच दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः।।

हास्य रस में निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा आदि व्यभिचारी भाव पाए जाते हैं।

हास्य रस का आधार विकृत वेष अभिनय आदि है। विकृत वेष तथा वाणी आदि रुद्रगणों में पाया जाता है। अतः हास्य के देवता प्रमथगण कहे गए हैं। हास्य

का वर्ण श्वेत माना जाता है।

करुण रस- इष्ट के नाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले शोक नामक स्थायी भाव का परिपोष करुण रस कहलाता है। (दशरूपक 4/81)। भावप्रकाशन में करुणरस को अत्यन्त विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया गया है-

शोकात्मा करुणो योषिन्नीचादिप्रकृतिस्स्वतः।
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच विनिपातनात्।।
वधादिष्टस्य पुत्रादिनिधनादर्थहानितः।
राज्यदेशपरिभ्रंशादन्यान्यव्यसनोदयात्।।
दैवोपघाताद्दारिद्याद्व्याधिभ्यः प्रजायते। 3/39.

अर्थात्-स्त्री तथा नीचादि-प्रकृति वाला तथा शोक स्थायी भाव वाला करुणरस होता है। अभीष्ट जन के वियोग, शाप-क्लेश-विनिपात, इष्ट के वध, पुत्रादि की मृत्यु, अत्यधिक धन नाश, राज्य तथा देश से निष्कासन, अन्यान्य व्यसनोदय,दैवीय प्रकोप, दरिद्रता एवं व्याधि आदि विभावों से करुण रस उत्पन्न होता है।

करुण रस में मोह, विषाद, निर्वेद, चिन्ता, औत्सुक्य, दीनता, जड़ता, उन्माद, व्याधि, अपस्मार, आलस्य, मृत्यु आदि व्याभिचारी भाव पाए जाते हैं। अश्रुपात, मुखवैवर्ण्य, स्वरभेद, विवर्णता, नि:श्वास, स्मृतिभ्रंश, विलाप, अंग शिथिलता, मूर्च्छा आदि करुण रस के अनुभाव हैं।

उत्तररामचरितम् का निम्नलिखित श्लोक करुण का सुन्दर उदाहरण है। सीता को निर्वासित करने के वर्षों बाद राम कारणवश पुनः पंचवटी पहुंचते हैं। वहां पूर्वानुभूत स्थलों को देखकर उनका हृदय शोक से सन्तप्त हो उठता है-

हा हा देवि। स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।। 3/38.

अर्थात् हाय, हाय, देवी! हृदय फट रहा है, देह के बन्धन टूट रहे हैं; संसार को सूना मान रहा हूं; भीतर की आग से निरन्तर (भीतर ही भीतर) सुलगता रहता हूं। दुखी अन्तरात्मा मानों गहरे अन्धकार में डूबती जा रही हैं। मूर्च्छा चारों ओर से मुझे घेरती जा रही है। मैं अभागा क्या करूं?

करुण रस का आधार दया कहलाती है (भाव प्रकाशन 3/74)। यम दया के द्वारा पाप को रोकते हैं अतः करुण रस के देवता यम कहे गए हैं। करुण रस

कपोतवर्णी हैं-

धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः। साहित्यदर्पण 3/222

करुण तथा विप्रलम्भ श्रृंगार का भेद- करुण एवं विप्रलम्भ श्रृंगार में कदाचित् भ्रम की स्थिति हो जाती है किन्तु दोनों का क्षेत्र स्पष्टतः भिन्न भिन्न है। दशरूपककार ने इस भ्रम को सर्वथा नष्ट एवं स्पष्ट करते हुए लिखा है-

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः विलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न श्रृंगारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः।। 4/67

अर्थात् '(नायक-नायिका में से) एक की मृत्यु हो जाने पर जब दूसरा विलाप करता है तब वहां शोक (रस) ही होता है। वहां श्रृंगार का आलम्बन ही नष्ट हो जाने से श्रृंगार रस नहीं हो सकता। किन्तु (किसी भी कारण से) पुनः जीवित हो जाने पर करुण नहीं रहता, वहां श्रृंगार होता है।'

इस प्रकार 'मृत्यु' वह रेखा है जिससे पूर्व श्रृंगार (विप्रयोग) और बाद में करुण रस होता है। विप्रलभ में मिलन की आशा होती है करुण में नहीं। भवभूति ने श्रीराम के मुख से विप्रयोग और करुण का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है

''---- **वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्**
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः।। उत्तररामचरित

अर्थात् (रावण के द्वारा हर कर ले जाने पर) सीता का वह वियोग शत्रु के वध पर्यन्त अवधि तक का था; किन्तु कठोर तथा चुपचाप सहने योग्य यह सम्पूर्ण वियोग तो अवधि शून्य है।'

भरतमुनि ने भी करुण को निराशामय और विप्रलम्भ को आशामय कह कर उनका भेद दिखलाया है-

'करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति'- भरत नाट्यशास्त्र 6/45.

रौद्र रस- ईर्ष्या अथवा शत्रु के द्वारा किए गए अपकार आदि कारणों (विभावों) से उत्पन्न क्रोध स्थायी भाव का परिपोष रौद्ररस कहलाता है। इसके साथ ही मानसिक अनुभावरूप में क्षोभ उत्पन्न होता है।

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः क्षोभः....। दशरूपक 4/74

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में क्रोध के कारणों की विस्तृत सूची दी है (भावप्रकाशन 3/38)। तदनुसार रौद्ररस राक्षस, उद्धत, दैत्य तथा क्रूर आदि प्रवृत्ति वाला होता है।

अनृतभाषण, अवज्ञा, कटु-कठोर वचन, वध तथा परस्त्रीगमन की प्रतिज्ञा, राष्ट्रभंजन, हठपूर्वक गृह-क्षेत्र-स्त्री आदि का ग्रहण (अपहरण), मत्सर (गुणों में दोपदर्शन), देश-जाति-कुल-आचार-विद्या-शौर्य आदि की निन्दा, आक्रोश, कलह, आक्षेपवचन, आज्ञा का उल्लंघन आदि इस रस के विभाव हैं। होठ काटना, कांपना, भौंहे टेढ़ी करना, आंखों का लाल होना, शस्त्र उठाना, डींग मारना, पृथिवी पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना, रक्त पी लेना, आंतें खींचकर पहन लेना, युद्ध में गर्जना करना, बार-बार भर्त्सना करना आदि रौद्र रस के अनुभाव है। रौद्र रस में अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

रौद्र रस के देवता रुद्र कहे गए हैं तथा इसका वर्ण रक्तवर्ण है-

रौद्र क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः। साहित्यदर्पण 3/227

वेणीसंहार नाटक में द्रोणाचार्य का वध सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध अश्वत्थामा की निम्नलिखित उक्ति रौद्र रस का सुन्दर उदाहरण है-

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्
मनुजपशुभिर्निर्मयादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।

अर्थात् 'शस्त्रधारी तुम्हारे जैसे मर्यादाहीन जिन नरपशुओं ने यह महापाप (द्रोणवध) किया है या अनुमति दी है या देखा है, उन सभी के साथ कृष्ण, भीम और अर्जुन के रक्त, चर्बी और मांस के द्वारा मैं दिशाओं में बलि देता हूं।'

वीररस- प्रताप, विनय, अध्यवसाय (प्रयास या संकल्प), बल, मोह, अविषाद, नीति, विस्मय, एवं विक्रम आदि विभावों से होने वाले उत्साह स्थायी भाव का परिपोष वीररस कहलाता है।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः। उत्साहभूः....। दशरूपक 4/72

भावप्रकाशनकार की परिभाषा अधिक विस्तृत है (भावप्रकाशन 3/36)। तदनुसार उत्तम प्रकृति वाला तथा उत्साह स्थायी भाव वाला वीर रस होता है। सत्त्व, सम्पत्ति, शूरता, त्याग, अविस्मय, असम्मोह, अविषाद आदि से उत्साह उत्पन्न होता है। कार्यतत्त्वार्थनिश्चय, पराक्रम, प्रताप, यश, कीर्ति, विनय, नीति, प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, धनसम्पन्नता, कुलीनता, मित्रता आदि वीर रस के विभाव हैं। स्थिरता, शूरता, धैर्य, आक्षेप वचन, साम-दान-दण्ड-भेद उपायों का यथासमय प्रयोग तथा भावपूर्ण

गम्भीर भाषण-वीररस के अनुभाव हैं। प्रबोध, गर्व, उग्रता, मद, हर्ष, स्मृति, धैर्य, औत्सुक्य, तर्क आदि इसके व्यभिचारी भाव है।

काव्यप्रकाशकार ने हनुमन्नाटक से वीररस का निम्नलिखित उदाहरण दिया है- लंकायुद्ध में मेघनाद की यह गर्वोक्ति है-

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत् हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किंचिद्भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।।

अर्थात्- अरे क्षुद्र वानरों! त्रास मत करो। इन्द्रगज (ऐरावत) के मस्तक का भेदन कर देने वाले (मेरे) ये बाण तुम लोगों के शरीर पर गिरने से लज्जा करते हैं। हे लक्ष्मण! तुम रुको, तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो। मैं तो मेघनाद हूं। (मैं तो) तनिक भ्रभूंग की लीला से समुद्र को नियमित कर लेने वाले राम को खोज रहा हूं।

इस पद्य में राम आलम्बन विभाव है; उनके द्वारा जलधिनियमन उद्दीपन विभाव है; प्रतापी राम की खोज और वानरों की उपेक्षा अनुभाव है, इन्द्र के हाथी ऐरावत के मस्तक भेदन की स्मृति और 'वानरों को भेदने में बाणों को लज्जा' से गम्य गर्व व्यभिचारी भाव हैं। मेघनाद में राम से युद्ध करने का 'उत्साह' स्थायी भाव है।

कुछ आचार्यों के अनुसार युद्धादि में पराक्रम दिखाने वाला व्यक्ति ही वीर पद से जाना जाता है,अत: वीररस के भेद नहीं करने चाहिए। किन्तु अन्य कई आचार्यों ने वीर रस के तीन अथवा चार भेदों का कथन किया है। धनंजय और शारदातनय वीर रस के तीन प्रकार कहते हैं-

"---- **स च दयारणदानयोगात् त्रेधा.....**" दशरूपक 4/72

"**युद्धात्मकः....., दानात्मकः...., दयात्मकः.........।**"

भावप्रकाशन 3/52, 53, 54

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ वीर रस को चार प्रकार का बताते हैं-

"**स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।**"

साहित्यदर्पण 3/234.

रणवीर अथवा युद्धवीर- नि:शस्त्र रहकर भी युद्ध के लिए साहस, अस्त्र-शस्त्र प्रहार से हर्ष, युद्ध से न भागना, भयभीत को अभय, शरणागत की रक्षा- ये युद्धवीर के गुण है। यथा अर्जुन।

दानवीर- याचकों को अभीप्सित से अधिक अर्थ देना, शत्रुजन को भी दान

तथा मधुर वचन से सत्कृत करना- ये दानवीर के गुण हैं यथा राजा बलि, परशुराम आदि।

धर्मवीर- धर्मपालन हेतु धन, सम्पत्ति, राज्य, शरीर, प्राण तक दे देने को तत्पर रहना-ये धर्मवीर के गुण हैं। यथा युधिष्ठिर-

राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम्।।

अर्थात्- राज्य, धन, शरीर, पत्नी, भाईयों के पुत्र- संसार में जो कुछ मेरे पास या मेरे आधीन है, वह सब धर्म के लिए सदा प्रस्तुत है।

दया वीर- रोग, दारिद्रय, क्षुधा, प्यास आदि से पीड़ितों पर प्रेमपूर्वक कृपा करना- ये दयावीर के गुण हैं यथा नागानन्द नाटक का नायक जीमूतवाहन-

वीररस का आधार धैर्य कहा जाता है। इन्द्र धैर्यशाली है अतः महेन्द्र वीररस के देवता है, तथा इस रस का वर्ण सुवर्ण सदृश अथवा गौर है- **'महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।'**

भयानक रस- विकृत स्वर, विकृत जीव आदि विभावों से परिपुष्ट भय स्थायीभाव भयानक रस कहलाता है-

'विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः।' दशरूपक 4/80

शारदातनय ने इस रस के अनेक अन्य विभाव गिनाए हैं (भाव प्रकाश 3/41)। तदनुसार विकृत ध्वनि, भूत, प्रेतादि विकृत आकारों के दर्शन, सूने वन में जाना, युद्धादि में प्रवेश करना, गुरुजन तथा राजा आदि के प्रति अपराध करना आदि विभावों से भय स्थायी भाव पुष्ट होता है और भयानक रस निष्पन्न होता है। विवर्णता, गद्गद् स्वर, मूर्च्छा, पसीना, रोमांच, कम्प, इधर-उधर देखना, ओंठ-मुख सूख जाना, विषय के प्रति भ्रम या अज्ञानता आदि भयानक रस के अनुभाव होते हैं। इस रस में जुगुप्सा, आवेग, संमोह, त्रास,ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, मृत्यु आदि व्यभिचारी भाव पाए जाते हैं। यथा- कोई कवि राजासे कहा रहा है-

स्वगेहात् पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात् सान्दद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम्।
तदन्वंगान्यंगैरभिनिविशमानो न गणय
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः।।

अर्थात् '(हे राजन्) आपकी विजययात्रा से चकित बुद्धि (आपका) शत्रु अपने घर से मार्ग पर, मार्ग से घने वन में, वहां से भी घने वृक्षों से घिरे पर्वत पर

और वहां से भी गुफा में छिप गया। गुफा में भी शरीर के सभी अंगों को संकुचित करके, मानो एक अंग से दूसरे अंग में प्रविष्ट सा होता हुआ नहीं समझ पा रहा कि कहां जाकर छिप जाए।'

इस पद्य में विजययात्रा का राजा आलम्बन है, उसका पराक्रम उद्दीपन विभाव है। इधर उधर घबरा कर छिपते जाना अनुभाव है; दीनता, सम्भ्रम, शंका, चिन्ता, त्रास, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी से परिपुष्ट होता भय स्थायी भाव भयानक रस में निष्पन्न हो रहा है।

संहार करते समय कालदेव का रूप एवं आकार अत्यन्त विकृत होता है और भयानक रस का आधार विकृत आकार तथा विकृत रूप है। अतः भयानक रस के देवता कालदेव हैं- '**भयानको भयस्थायीभावः कालाधिदैवतः।**' भयानक रस का वर्ण कृष्ण कहा गया है।

वीभत्स रस- अन्यान्य भावों से परिपुष्ट होता हुआ 'जुगुप्सा' स्थायी भाव वीभत्स रस में निष्पन्न होता है। '**वीभत्स........ जुगुप्सैकभूः।**' (दशरूपक 4/73)।

कुछ आचार्यों ने वीभत्स रस के दो (भाव प्रकाशन 3/40) अथवा तीन (दशरूपक 4/73) प्रकार माने हैं-

उद्वेगी वीभत्स- कीड़ों, दुर्गन्ध, वमन, मवाद आदि विभावों से होने वाला वीभत्स रस उद्वेगी वीभत्स रस होता है।

क्षोभण वीभत्स- रक्त, आंते, हड्डी, मज्जा, मांस आदि के दर्शन अथवा स्पर्श विभावों से जायमान वीभत्स रस क्षोभण वीभत्स रस होता है।

शुद्ध वीभत्स- वैराग्य के कारण रमणी के जघन, स्तनों आदि अवयवों के प्रति घृणा विभाव से उत्पन्न वीभत्स रस शुद्ध वीभत्स रस होता है।

इन सभी प्रकार के वीभत्स में थूकना, नाक सिकोड़ना, आंखें मींचना, नाक तथा मुख का सिकोड़ना आदि इस रस के अनुभाव हैं। मोह, आवेग, व्याधि, शंका, अपस्मार, मृत्यु आदि इस रस के व्यभिचारी भाव हैं।

इस रस का निम्नलिखित उदाहरण भवभूतिकृत मालतीमाधव के पंचम अंक से है। नायक माधव श्मशान में मांस खाने में व्यस्त किसी प्रेत की वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन कर रहा है-

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।

आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरंकः करंका
दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति।।

अर्थात्- सर्वप्रथम त्वचा को उखाड़ कर अत्यधिक स्थूल या अधिक मांस वाले कन्धों, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि के भयंकर दुर्गन्ध वाले मांस को खाकर, घबराया हुआ, पर्यस्त नेत्र, काला दांत निकाले हुए यह दरिद्र प्रेत (अब) गोद में रखे शव की हड्डियों में लगे हुए तथा गद्डों में स्थित कच्चे मांस को भी खा रहा है।

वीभत्स रस का आधार प्रलयात्मक महाकाल है। अतः वीभत्सरस के देवता महाकाल हैं तथा इसका वर्ण नील है-

''**नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः**''- साहित्यदर्पण 3/239

अद्‌भुत रस- लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन रूपी विभावों से विभावित होकर 'विस्मय' नामक स्थायी भाव अद्‌भुत रस में निष्पन्न होता है-

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद् विस्मयात्मारसोऽद्‌भुतः- दशरूपक 4/78.

भावप्रकाशन (3/37) के अनुसार 'कर्म की श्रेष्ठता, मनोरथ प्राप्ति, दिव्यदर्शन, विरुद्ध अविरुद्ध पदार्थों का समागम, सम्भव तथा असम्भव शत्रुओं की उत्पत्ति का दर्शन, बिना देश-बिना समय में सम्पत्ति प्राप्ति इत्यादि विभावों से अद्‌भुत रस निष्पन्न होता है। साधुवाद, अश्रु, कम्पन, स्वेद, गद्‌गद कण्ठ आदि अद्‌भुत रस के अनुभाव हैं तथा हर्ष, आवेग, धैर्य आदि इस रस के व्यभिचारी भाव है।

काव्यप्रकाशकार ने अद्‌भुत रस का निम्नलिखित उदाहरण दिया है। वामनावतार को देख कर राजा बलि की यह उक्ति है-

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भंगिः।
लोकोत्तरधैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः।।

अर्थात्- यह एक महान् अलौकिक अवतार है। ऐसी कान्ति और कहां? यह (उठने-बैठने-खड़ी होने की) शैली अत्यन्त नवीन ही है। यह धैर्य अलौकिक है तथा प्रभाव भी (अलौकिक है)। इसकी आकृति अकथनीय है तथा (ब्रह्मा की) वह सृष्टि भी नवीन ही है।

अद्‌भुत रस का आधार बहुशिल्पात्मिका बुद्धि है (भावप्रकाशन 3/72)। यह बुद्धि ब्रह्मा में है, अतः अद्‌भुत रस के देवता ब्रह्मा है। इस रस का वर्ण पीत कहा गया है।

आचार्य भरत ने अब तक विवेचित आठ रसों और उनके स्थायी भावों आदि का कथन किया था। किन्तु परवर्ती काल में एक नवें रस- 'शान्त'- को भी कुछ आचार्यों ने उद्‌भवित करके उसका भी प्रबलतया मण्डन किया। आचार्य अभिनवगुप्त ने व्यभिचारी भावों का परिगणन करते हुए 'शान्त' को नवां रस माना और 'निर्वेद' को शान्त रस का स्थायी भाव कहा-

निर्वेदस्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। काव्यप्रकाश 4/47

कतिपय अन्य आचार्यों ने शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद न मान कर 'शम' माना। धनंजय ने दशरूपक में स्पष्ट किया कि 'कुछ आचार्य 'शम' को भी स्थायी भाव मानते हैं किन्तु इस 'शम' की पुष्टि रूपकों में नहीं होती-

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक 1/35.

धनिक ने इस कारिका की अवलोक वृत्ति में 'शम' तथा 'शान्त रस' के विरोध में आचार्यों की भिन्न भिन्न विचारसरणि को प्रस्तुत किया। धनिक के अनुसार-

1. कुछ लोग आचार्य भरत के प्रमाण स्वरूप कहते हैं कि शान्तरस है ही नहीं। क्योंकि भरत ने शान्त रस का न तो लक्षण दिया है और न ही उसके विभावादि का कथन किया।
2. कुछ अन्य आचार्य शान्त रस का वास्तविक अभाव ही मानते हैं। शम भाव में मानव मन में रहने वाले रागद्वेष, काम-क्रोध की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। किन्तु यह स्थिति असम्भव है। अतः शान्त रस नहीं है।
3. कुछ अन्य आचार्य वीर (दयावीर-अविनाशी परमतत्त्व की ओर उन्मुखता) तथा वीभत्स (शुद्ध वीभत्स- संसार के प्रति घृणा) रसों में ही शान्तरस का अन्तर्भाव मानते हैं और शम भाव को ही स्वीकार नहीं करते।

इस विवेचन के पश्चात् धनिक और स्पष्ट करते हैं कि रूपकों में हम शान्त रस को स्वीकार नहीं कर सकते। शम की स्थिति में सारे कार्यव्यापारों का विलय हो जाता है। अभिनय में प्रवृत्ति का प्रधान्य होता है और शान्त रस निवृत्ति प्रधान है। निवृत्ति का अभिनय कथंप्रकारेण हो सकता है? क्रियारहित दशा अभिनेय नहीं है, अतः रूपकों में केवल आठ रस ही हो सकते हैं।

आचार्य उद्‌भट द्वारा सर्वप्रथम प्रतिपादित नवम रस- शान्त- का आचार्य विश्वनाथ ने सांगोपांग वर्णन किया है। तदनुसार इसका स्थायी भाव शम है तथा इसके आश्रय उत्तम पात्र होते हैं- **'शान्तः शमस्थायीभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।'** (साहित्यदर्पण 3/245) अनित्यत्व, दुखमयता आदि के रूप में संसार की असारता का ज्ञान तथा परमात्मा का स्वरूप इस रस में आलम्बन होता है। पवित्र आश्रमस्थल,

ऋषि मुनियों का संग, पवित्र तीर्थ, तपस्या-ध्यान योग्य एकान्त वन प्रदेश आदि शान्तरस के उद्दीपन होते हैं। रोमांच, हर्ष, आदि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, धृति, स्मृति, विबोध, सुमति आदि शान्त रस के व्यभिचारी भाव हैं।

काव्य प्रकाशकार ने शान्तरस का निम्नलिखित उदाहरण दिया है-

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ व लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः।।

अर्थात्- सर्प अथवा हार में, पुष्पों की शय्या अथवा पत्थर की शिला में, मणि अथवा मिट्टी का ढेले में, बलवान् शत्रु अथवा मित्र में, तिनके में अथवा स्त्री समूह में, समबुद्धि रखने वाले मेरे सारे दिन किसी पवित्र (अथवा अपवित्र) स्थल में 'शिव शिव' ऐसा प्रलाप करते हुए व्यतीत होते हैं।

इस श्लोक में असत् प्रतीत होने वाला संसार आलम्बन है; पवित्र अरण्य उद्दीपन है; सर्प अथवा हार में, पुष्पशय्या या पत्थर में, मणि अथवा मिट्टी के ढेले में, शक्तिशाली शत्रु या मित्र में समदृष्टि अनुभाव है तथा धैर्य, सुमति, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव है।

शान्त रस के देवता भगवान् नारायण है तथा इस रस का वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा के सदृश सुन्दर शुक्ल वर्ण है-

'कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायण दैवतः।। साहित्यदर्पण 3/246

श्री मम्मट ने रस के नामों का कथन करते हुए जो कारिका लिखी-

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञो चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता।।

काव्यप्रकाश 4/29

यह कारिका मम्मट ने भरत के नाट्यशास्त्र (6/16) से यथावत ग्रहण कर ली है। भरत ने रसों का जो यह क्रम रखा, उसका विशिष्ट प्रयोजन उद्घाटित करते हुए श्री अभिनवगुप्त ने बहुत सुन्दर विवेचन किया है। तदनुसार-

काम अथवा रति मनुष्य-पशु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में विद्यमान रहता है, और सभी का उसके प्रति अत्यन्त आकर्षण होता है। यही कारण है कि कारिका में शृंगार को प्रथम स्थान दिया गया है। शृंगार के पश्चात् हास्य को स्थान मिला, क्योंकि हास्य शृंगार का अनुगामी है। शृंगार के सम्भोग भेद में परस्पर मिलन

के कारण एक दूसरे की अपेक्षा रहती है और वियोग श्रृंगार में मिलन की आशा रहती है। अतः श्रृंगार के दोनों भेद सापेक्ष- आशामय-रस है।

इनसे विपरीत स्थिति करुण रस की है अतः श्रृंगार-हास्य के पश्चात् करुण को स्थान दिया। इसमें प्रियजन से पुनर्मिलन की आशा न होने से नैराश्यमय करुणरस निरपेक्ष माना जाता है। करुण की सीमा मृत्यु के पश्चात् होती है और मृत्यु का सम्बन्ध रौद्र से होता है अतः करुण के बाद रौद्र को रखा गया। रौद्र रस अर्थमूलक है।' काम और अर्थ के धर्ममूलक होने के कारण रौद्र के पश्चात् वीररस को स्थान दिया गया। वीररस धर्मप्रधान होता है। वीररस का मुख्य कार्य भयभीतों को आश्रय प्रदान करना है अतः वीर के साथ उसके विरोधी भयानक रस को स्थान दिया गया है। उस भयानक रस के समान ही वीभत्सरस के विभाव होते हैं अतः भयानक के बाद वीभत्स रस को रखा गया है।... अन्त में सदा अद्‌भुत रस को स्थान देना चाहिए। उसके बाद धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्तिधर्मों से विपरीत निवृत्तिधर्मप्रधान और मोक्षफल वाला शान्तरस आता है।---- काव्य में शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्त में उसको स्थान दिया जा सकता है।''

विभिन्न भाव- रसों के इस विवेचन में सर्वत्र विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव- इस प्रकार भाव शब्द बार-बार आया है। इस पुस्तक में रस सम्प्रदाय के विवरण में इनका अत्यन्त संक्षिप्त कथन किया गया है। किन्तु रस के सदृश ही इनका भी तनिक विस्तृत स्वरूप कथन आवश्यक है।

भाव- सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्‌भावभावनम्। दशरूपक 4/4

भावः स्याद् भावनं......। भाव प्रकाशन 1/12

(अनुकार्य राम आदि के) सुख दुख आदि भावों के द्वारा सहृदय के हृदय भावों का भावन ही भाव कहलाता है। आश्रय के हृदय में जो भाव है, उनका और सहृदय पाठक या प्रेक्षक के भाव की एकतानता को ही भाव कहा जाता है।

भाव के पांच भेद है- विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायी भाव।

विभाव-अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः। भावप्रकाशन 1/14/1

जो पदार्थों का ज्ञान कराते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।

आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा।। दशरूपक 4/2

स्वयं परिज्ञात (जाना हुआ) होकर जो स्थायी भावको पुष्ट कर देता है, वह

विभाव होता है तथा इसके दो भेद होते हैं- आलम्बन तथा उद्दीपन। विभाव वे कारण, निमित्त अथवा हेतु हैं जिनसे रसानुभूति होती है।

1. आलम्बन विभाव- जिसका आलम्बन करके रस की निष्पत्ति होती है, वह आलम्बन विभाव है। दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में और शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति उत्पन्न होती है और उन दोनों को देखकर दर्शक के मन में रस निष्पन्न होता है अतः दुष्यन्त, शकुन्तला आदि आलम्बन विभाव हैं। निम्नलिखित श्लोक राजा पुरुरवा उर्वशी को देख कर कह रहा है।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।
श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। विक्रमोर्वशीयम् 1/10

अर्थात्- इस (उर्वशी) की निर्माण विधि में सृष्टकर्ता प्रजापति कौन हुआ- कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा या एकमात्र श्रृंगाररस युक्त स्वयं कामदेव अथवा चैत्र (वसन्त का मास)? वेद के अभ्यास से जड (भावहीन बुद्धि) तथा विषय रसों से विनिवर्तित रुचि वाला वह प्राचीन मुनि (ब्रह्मा) ऐसा मनोहर रूप रचने में कैसे समर्थ हो सकता है?

यहां पुरूरवा के मन की रति का आलम्बन उर्वशी है।

2. उद्दीपन विभाव- चन्द्रिका, उद्यान, नदी तट, रमणीय ऋ्तु के द्वारा वह रति उद्दीप्त होती है। अतः वे सब उद्दीपन विभाव है।

अनुभाव- विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः।

भाव प्रकाशन् 1/14/12

विभावित अथों की अनुभूति अनुभाव कही जाती है। भरत के अनुसार अनुभावों के द्वारा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं अर्थात् अनुभूति योग्य बनाए जाते है अतः अनुभाव कहलाते हैं। कटाक्ष, चंचलभ्रूलता, रोमांच स्वरभेद, निःश्वास आदि अनुभाव है। प्रत्येक रस के अनेक भिन्न भिन्न अनुभाव होते हैं।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। दशरूपक 4/3

नायकादि के शरीर से परिलक्षित होने वाले तथा हृदयस्थित भाव की सूचना देने वाले विकार अनुभाव कहलाते हैं।

सात्त्विक भाव-

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः साहित्यदर्पण 3/134

पृथग्भावाः भवत्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः।

सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।। दशरूपक 4/4-5

सात्विक भाव भी अनुभाव है किन्तु फिर भी वे पृथक् भाव है क्योंकि उनकी उत्पत्ति सत्त्व अर्थात् मानसिक स्थिति से होती है। भरत ने स्पष्ट कहा है- 'इह हि नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते''- (नाट्यशास्त्र 7/94-95)। अर्थात् समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है। सरल शब्दों में कहें तो काव्यगत नायक-नायिका के दुख या सुख की भांति सहृदय दर्शक के हृदय का भी उसी तरह दुखित या सुखित हो जाने का नाम ही सत्त्व है। सात्विक भाव आठ गिनाए गए हैं- (दशरूपक 4/5-6, साहित्यदर्पण 136)

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांच स्वरभंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।।

साहित्यदर्पण 3/135-136

1. स्तम्भ- (भाव प्रकाशन 1/101; साहित्यदर्पण 3/136) भय,हर्ष, रोग, मद,क्रोध, विस्मय आदि के कारण शरीरांगों का निश्चेष्ट निष्क्रिय हो जाना स्तम्भ नामक सात्त्विक भाव है।

2. स्वेद- (भाव प्रकाशन 1/102; साहित्य दर्पण 3/137) रतिक्रिया, आतप, परिश्रम, क्रोध, भय, ज्वर, ग्लानि आदि के कारण शरीर से पसीना आना स्वेद नामक सात्त्विक भाव है।

3. रोमांच- (भाव प्रकाशन 1/103; साहित्यदर्पण 3/137)- हर्ष, विस्मय, भय, क्रोध, रोग, शीत आदि के कारण रोंगटे खड़े हो जाना रोमांच नामक सात्त्विक भाव है।

4. स्वरभंग अथवा वैस्वर्य- (भावप्रकाशन 1/104; साहित्यदर्पण 3/138) मद (नशा), हर्ष, पीड़ा,क्रोध, भय, रोग आदि के कारण स्वरों के स्थान भ्रष्ट होने से वैस्वर्य अथवा स्वरभंग नामक सात्त्विक भाव होता है।

5. वेपथु अथवा कम्प- (भावप्रकाशन 1/107; साहित्यदर्पण 3/138) राग, द्वेष,श्रम, रोग, भय, रोष, वृद्धावस्था के कारण शरीर तथा अंगों में थरथराहट होना कम्प या वेपथु नामक सात्त्विक भाव कहलाता है।

6. वैवर्ण्य- (भावप्रकाशन 1/106; साहित्यदर्पण 3/139) विषाद, मद, रोष, आतप, व्याधि, शीत, भय, थकान के कारण शरीर सौन्दर्य का कम होना अथवा मुख के रंग का फीका पड़ जाना वैवर्ण्य नामक सात्त्विक भाव होता है।

7. अश्रु अथवा वाष्प- (भावप्रकाशन 1/105; साहित्यदर्पण 3/139) क्रोध,

दुख, हर्ष, भय,रोग, निर्निमेष देखना, शोक, धुंआ, जंभाई लेना आदि के कारण उत्पन्न नेत्रजल को ही अश्रु अथवा वाष्प नामक सात्त्विक भाव कहते हैं।

8. प्रलय- (भावप्रकाशन 1/108; साहित्यदर्पण 3/139) सुख, दुख, मद, निद्रा, रोग, प्रहार आदि के कारण मूर्च्छित हो जाना या चेष्टा और चेतना का नष्ट हो जाना प्रलय नामक सात्त्विक भाव होता है।

व्यभिचारी भाव- जिस प्रकार समुद्र में लहरें उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विशेष रूप से स्थायी भाव के अभिमुख होकर चलने वाले तथा स्थायी भाव के अन्तर्गत अस्थायी रूप में जन्म लेकर उसी में विलीन हो जाने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

अनवस्थितजन्मानो भूयो भूयः स्वभावतः।।
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः।

भाव प्रकाशन 1/14/5-6

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।।

दशरूपक 4/7

आचार्य भरत ने व्यभिचारी पद की निष्पत्ति करते हुए स्पष्ट किया कि 'वि' एवं 'अभि' उपसर्गों से गति तथा संचालन अर्थ में चर् धातु से व्यभिचारी पद निष्पन्न होता है। अतः व्यभिचारी भाव उन्हें कहते हैं जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट करके आस्वादन योग्य बनाते हैं।

सभी आचार्यों ने तैंतीस व्यभिचारी भाव गिनाए हैं (भावप्रकाशन 1/109; साहित्यदर्पण 3/141.)

निर्वेदग्लानिशंकाश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयस्य।।

दशरूपक 4/8

निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, ईर्ष्या, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, सुमति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, चपलता- ये तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं।

1. निर्वेद- दरिद्रता, रोग, दुख, प्रियजन वियोग, परवृद्धि, ईर्ष्या, तत्त्वज्ञान आदि विभावों से कारण अपना ही तिरस्कार करना निर्वेद है। (भावप्रकाशन 1/110)। निर्वेद में चिन्ता, अश्रुपात, निःश्वास, विवर्णता, दीनता, उच्छ्वास आदि पाए जाते हैं (दशरूपक 4/9)

ईर्ष्या जन्य निर्वेद का निम्नलिखित उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। लंका में श्रीराम के द्वारा राक्षसों का वध किए जाने पर कुम्भकर्ण, मेघनाद और स्वयं का तिरस्कार करते हुए रावण कह रहा है-

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेमिर्भुजैः।।

हनुमन्नाटक 14/6

अर्थात्-सबसे बड़ा धिक्कार (अपमान) वही है कि मेरे शत्रु हो, उसमें भी यह तपस्वी (राम मेरा शत्रु!) वह भी यही (लंका में मेरी नाक के नीचे) राक्षस कुल की हत्या कर रहा है और अहो (फिर भी) रावण जीवित है! इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है, कुम्भकर्ण को जगा कर भी क्या (लाभ) हुआ? छोटे गांव जैसे उस स्वर्ग को लूटकर व्यर्थ ही घमण्ड से फूली हुई मेरी उन भुजाओं से भी क्या (लाभ)?

2. ग्लानि- वमन, जागरण, अतिशय रतिक्रीडा, भूख, प्यास, मार्गजन्य परिश्रम से उत्पन्न निष्प्राणता (प्राणहीनता) ही ग्लानि है। (भाव प्रकाशन 1/111/1-2)। ग्लानि में विवर्णता, कम्प, अनुत्साह, अंग-वचन-क्रिया की क्षीणता आदि अनुभाव कहे जाते हैं (दशरूपक 4/10)।

3. शंका- **अनर्थप्रतिभा शंका परक्रौर्यात्स्वदुर्नयत्।**
कम्पशोषाभिर्वीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता।। दशरूपक 4/11.

दूसरों की क्रूरता अथवा अपनी ही दुर्नीति के कारण हो सकने वाले अनर्थ की आशंका ही शंका नामक व्यभिचारी भाव है। शरीर का कम्पन, शरीर/ मुख सूखना, इधर उधर देखना, स्वर आदि बदल जाना आदि इसके अनुभाव है।

रत्नावली नाटिका में रानी वासवदत्ता से कौर्यजनित शंका के कारण सागरिका (रत्नावली) की दशा का चित्रण इस व्यभिचारी भाव का सुन्दर उदाहरणहै-

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीसु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातंकविधुरा।।

रत्नावली 3/4.

अर्थात्- मैं जान ली गई- (राजा के प्रति मेरा प्रेम सब जान गए)- इस लज्जा के कारण वह सबसे मुंह छिपाती है। दो लोगों को बात करते देख कर- ये मेरे ही बारे में कथा कर रहे हैं- ऐसा सोचती है। सखियों के मुस्कराने पर अधिक खिन्न हो जाती है। मेरी प्रिया (सागरिका-रत्नावली) प्रायः ही अपने हृदय में छिपे आतंक से दुखी रहती है।

4. श्रम- व्यायान, नृत्य, मार्ग चलने, रतिक्रीडा, आदि से उत्पन्न थकान को श्रम कहा जाता है। (भाव प्रकाशन 1/124; दशरूपक 4/12.) श्रम में पसीना, शरीर मर्दन, निःश्वास, जंभाई, मन्दगति, आंख-मुख सिकोड़ना आदि अनुभाव पाए जाते हैं।

5. धृति- शौर्याद्विज्ञानतः शौचाचाराच्च गुरुभक्तितः।
श्रुतप्रभावतो क्रीडान्नानार्थाप्तेर्भवद्धृतिः।।

भाव प्रकाशन 1/131

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत्। दशरूपक 11/12

शौर्य, विज्ञान, पवित्र आचार, गुरु भक्ति, श्रुत प्रभाव, क्रीडा, विभिन्न अर्थों की प्राप्ति, ज्ञान, शक्ति आदि के कारण उत्पन्न सन्तोष ही धृति नामक व्यभिचारी भाव है। उचित कर्म करना, अप्राप्त विषयों का लाभ न होने पर शोक न करना, व्यग्रता रहित भोग करना आदि इसके अनुभाव हैं।

श्रुत प्रभाव तथा ज्ञान से होने वाली धृति का सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि के वैराग्यशतक में प्राप्त होता है-

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।।

अर्थात्- हम यहां वृक्ष छाल के वस्त्रों से सन्तष्ट हैं, आप रेशमी वस्त्रों से। दोनों में सन्तोष तो समान है फिर किसी में कोई विशेषता नहीं रही। जिसका लोभ बड़ा होता है, दरिद्र वही होता है; मन के सन्तष्ट हो जाने पर कौन धनी और कौन निर्धन है।

6. जड़ता- इष्ट अथवा अनिष्ट के दर्शन या श्रवण से तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढ़ता को जड़ता नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं। (भावप्रकाशन 1/144)

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। दशरूपक 4/13

जड़ता नामक व्यभिचारी भाव में मौन रह जाना, निर्मिमेषदृष्टि से देखना, अप्रतिभ रह जाना, सुख दुख के प्रति अविवेक आदि अनुभाव होते हैं।

7. हर्ष- अभीष्ट वस्तु प्राप्ति, प्रियजन समागम, उत्सव, देवता-गुरु-स्वामी की प्रसन्नता आदि विभावों से उत्पन्न मन की प्रसन्नता हर्ष नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। रोमांच, अश्रु, स्वेद, गदगद् वाणी, नेत्र तथा मुख का विकास, हल्की ताली बजाना आदि हर्ष के अनुभाव होते हैं। (भावप्रकाशन 1/132; दशरूपक 4/14)

8. दैन्य-दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत्। दशरूपक 4/14

दैन्यौत्सुक्यदौर्गत्यचिन्ताहृत्तापसम्भवम्। भाव प्रकाशन 1/126

दुर्गति, उत्सुकता का आधिक्य, चिन्ता, मनस्ताप आदि विभावों से उत्पन्न कान्तिहीनता को दैन्य कहा जाता है। व्याकुलता, शिरदर्द, मलिनता आदि इसके अनुभाव होते हैं।

9. उग्रता- अपराध, दुष्टता, क्रूरता आदि करने वाले दुष्ट व्यक्ति के प्रति क्रोध तथा कर्कशभाव को उग्रता कहा जाता है। शिर का कम्पन, पसीना, मारना, पीटना, बांध लेना, क्रूरता से वध कर देना आदि उग्रता के अनुभाव होते हैं। (भाव प्रकाशन 1/155)

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता।
तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनाताडनादयः।। दशरूपक 4/15

10. चिन्ता- ऐश्वर्यनाश, दरिद्रता, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि विभावों से उत्पन्न वितर्कपूर्वक उसी का ध्यान लगाना चिन्ता नामक व्यभिचारी भाव है। यह स्मृति (स्मरण) से भिन्न होता है। चित्त की शून्यता, निःश्वास- उच्छवास्, सन्ताप, कृशता, आकाश की ओर देखना आदि इसके अनुभाव है। (भावप्रकाशन 1/127, दशरूपक 4/16.)।

11. त्रास- मेघगर्जन, पशुओं अथवा मनुष्यों के उपद्रव, विद्युत-पात, शत्रुकृत आक्रमण आदि विभावों से उत्पन्न मनः क्षोभ को त्रास कहते हैं। उत्कम्पन्न,

रोमांच, मोह आदि इसके अनुभाव हैं। (भावप्रकाशन 1/158)

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः। दशरूपक 4/16.

12. असूया (ईर्ष्या)- **परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।**
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च।

दशरूपक 4/17

गर्व अथवा दुर्जनता अथवा क्रोध के कारण दूसरे की उन्नति तथा ऐश्वर्य, सौभाग्य, बुद्धि आदि को न सह पाना ही असूया नामक व्यभिचारी भाव होता है। (भावप्रकाशन 1/114) । दोष कथन करना, तिरस्कार करना, भौंहे चढ़ाना, मुंह फेर लेना, क्रोध आदि इसके अनुभाव पाए जाते हैं।

13. अमर्ष- विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अपने से अधिक व्यक्तियों के द्वारा सभा में अपमानित या अनादर किए गए व्यक्ति में प्रतीकार करने का दृढ़ आग्रह ही अमर्ष नामक व्यभिचारी भाव है। (दशरूपक 4/18)

प्रतिक्रियेच्छाऽमर्षः स्याद्विद्यैश्वर्यबलाधिकैः।
आक्षिप्तस्य सभामध्येऽवमानं गमितस्य च।।

भावप्रकाशन 1/148.

पसीना, शिरः कम्प,उपाय- अन्वेषण, ध्यान, उत्साह, प्रयत्न, तर्जन, आदि अनुभाव अमर्ष में होते हैं।

14. गर्व- उच्चकुल, ऐश्वर्य, सुन्दरता, बल, अवस्था, विद्या आदि विभावों से उत्पन्न मद को गर्व नामक व्यभिचारी भाव कहा जाता है। (दशरूपक 4/19; भावप्रकाशन 1/147) । परचित्तपीडन, आश्रितों के प्रति अनादर, असूया, अमर्ष, कठोरता, उपहास, गुरुजनों की अवहेलना, विलासपूर्वक अपने ही अंगों को देखना आदि गर्व व्यभिचारी भाव के अनुभाव हैं।

15. स्मृति- **देशकालोपयुक्तानां सुखदुःखानुषंगिणाम्।**
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते।।

भावप्रकाशन 1/130

देश तथा काल के उपयुक्त, सुख तथा दुख से सम्बद्ध, चिरकाल से भूली हुई वस्तु का स्मरण हो आना ही स्मृति है।

दशरूपककार ने स्मृति की परिभाषा भावप्रकाशनकार से तनिक भिन्न दी है।

धनंजय के अनुसार पूर्व में देखी गई किसी वस्तु के सदृश अन्य वस्तु को देखकर अथवा चिन्ता आदि से पूर्व में देखी गई वस्तु के संस्कार के जाग्रत हो जाने पर स्मृति व्यभिचारी भाव होता है। इसे मैंने पहले कभी देखा है- इस रूप में यह किसी वस्तु को अविभासित करती है-

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च।

ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः।। -दशरूपक 4/20

बार बार भौंहों को चढ़ाना, समान वस्तु का अवलोकन, प्रसन्नता, शिरः,-कम्प आदि स्मृति के अनुभाव हैं।

16. मरण- दशरूपककार ने कहा है कि मरण के सुप्रसिद्ध और अनर्थकारी होने से इसका लक्षण नहीं किया जा रहा है। धनंजय का कथन है कि श्रृंगार रस में यदि आलम्बन के मरण का वर्णन करना हो, तो यथार्थ मरण अंकित न करके आभास मात्र ही दिखाना चाहिए। अन्य रसों में इच्छानुसार कवि मरण का चित्रण कर सकता है, यथा महावीर चरित में ताडका का साक्षात् मरण।

17. मद- (मद्य) पान करने से उत्पन्न अत्यन्त प्रसन्नता या हर्ष की उत्कृष्टता मद नामक व्यभिचारी भाव होता है- **'हर्षोत्कर्षो मदः पानात्'**- दशरूपक 4/21। मद के कारण गति स्खलित हो जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है तथा वाणी लड़खड़ाने लगती है,- ये ही इसके अनुभाव है। इसमें उत्तम प्रकृति का पात्र सो जाता है; मध्यम प्रकृति का पात्र हंसता एवं गाता है तथा अधम प्रकृति का पात्र रुदन करने लगता है।

भावप्रकाशन में मद व्यभिचारी भाव का अत्यधिक विस्तृत वर्णन है- 1/114- ---123.।

18. सुप्त- निद्रा में उत्पन्न होने वाली स्थिति सुप्त नामक व्यभिचारी भाव है (भाव प्रकाशन 1/154; दशरूपक 4/22) गहरी तथा सम श्वास एवं उच्छ्वास तथा स्पर्श की अनभिज्ञता आदि इसके अनुभाव हैं।

19. निद्रा- चिन्ता, आलस्य, श्रम, दुर्बलता, शोक, अधिक भोजन, अनशन आदि विभावों के कारण मनः सम्मीलन (मन का अन्य इन्द्रियों से संबंध विच्छेद) ही निद्रा नामक व्यभिचारी भाव होता है। (भावप्रकाशन 1/151; दशरूपक 4/ 23)। शरीर की गुरुता, आंखें मूंदना, जंभाई आना, बड़बड़ाना आदि निद्रा के

अनुभाव हैं।

20. विबोध- शब्द से, स्पर्श से, भीषण स्वप्न दर्शन से उत्पन्न जागरण ही विबोध नामक व्यभिचारी भाव है। यह जंभाई लेने, अंगड़ाई लेने, नेत्रों को खोलने-बन्द करने, शय्या त्याग करने, आंखें मलने आदि अनुभावों से युक्त होता है। (भावप्रकाशन 1/153; दशरूपक 4/24)

21. व्रीडा- दुराचरण, गुरु आज्ञा उल्लंघन, प्रतिज्ञा का अनिर्वाह, प्रिय का धृष्ट व्यवहार आदि विभावों के उत्पन्न धृष्टता का अभाव ही व्रीडा नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। चिन्तन, मुख छिपाना, नख कुतरना, विवर्णता, इधर-उधर देखना, दूर से ही घूंघट कर लेना आदि व्रीडा व्यभिचारी भाव के अनुभाव कहे गए हैं। (भावप्रकाशन 1/128; दशरूपक 4/24)

22. अपस्मार- ग्रहप्रकोप, महाभूत-पिशाच-ब्रह्मराक्षस आदि द्वारा पकड़ लेने, शून्य श्मशान, अपवित्रता आदि विभावों से उत्पन्न आवेश (चित्त विक्षेप, मिर्गी) को अपस्मार कहा जाता है। (भावप्रकाशन 1/152)। अपस्मार में भूमि पर गिर जाना, शरीर का कांपना, अत्यधिक पसीना, मुख से लार या फेन निकलना, फटे नेत्रों से देखना आदि अनुभाव होते हैं।

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः।। दशरूपक 4/25

23. मोह- भय, दुख की तीव्रता, चिन्ता, दैवीय विपत्ति, मत्सर, आदि विभावों से चित्त की विफलता अथवा ज्ञानलोप को मोह नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं। अज्ञान, भ्रम, भूमिपतन, निश्चेष्टता, वैवर्ण्य, चक्कर आना आदि मोह के अनुभाव कहे गए हैं (भावप्रकाशन 1/129; दशरूपक 4/26)

उत्तररामचरित नाटक का निम्नलिखित श्लोक मोह का सुन्दर उदाहरण है-

हा हा देवि! स्फुटति हृदयं, ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।। 3/38.

(इस श्लोक का अर्थ करुण रस के उदाहरण में देखें)

24. मति– शास्त्रादि के पठन-चिन्तन, तर्क वितर्क आदि से भ्रान्ति नष्ट होकर तत्त्व अर्थात्, वास्तविक अर्थ का ज्ञान होना ही मति है। शिष्यों को हित शिक्षा देना, चित्त का सन्तोष तथा कुशल व्यवहार आदि इसके अनुभाव है। (भाव प्रकाशन 1/150; दशरूपक 4/27)।

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का निम्नलिखित श्लोक इसका उपयुक्त उदाहरण है। भारवि का यह श्लोक सूक्ति रूप में प्रसिद्ध है-

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।। 2/30

अर्थात्= अचानक (बिना सोचे समझे) कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक समस्त आपत्तियों सबसे बड़ा स्थान है। गुणों की लोभी सम्पत्तियां सोच समझकर काम करने वाले का ही वरण करती है।

25. आलस्य– परिश्रम, गर्भावस्था, रोग, खेद, स्वभाव आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली जड़ता (कार्य न करने की मनस्थिति) आलस्य कहलाती है। कार्य में अरुचि, तन्द्रा में रहना, बार-बार जंभाई लेना, लेट जाना, एक ही स्थान पर बैठे रहना आदि इसके अनुभाव है। (भावप्रकाशन 1/125, दशरूपक 4/21)

दशरूपक के अवलोक में धनिक रचित निम्नलिखित आर्या आलस्य व्यभिचारीभाव का सुन्दर उदाहरण है-

चलति कथंचित्पृष्टा यच्छति वचनं कथंचिदालीनाम्।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः।।

अर्थात्-बढ़े हुए गर्भ के भार से आलस्ययुक्त रमणी कहे (पूछे) जाने पर कठिनाई से चलती है; कठिनाई से ही सखियों से वार्तालाप करती है। और (हर समय) बैठे ही रहना चाहती है।

26. आवेग– अनेकानेक कारणों से उत्पन्न मन का सम्भ्रम आवेग कहलाता है (भावप्रकाशन 1/138; दशरूपक 4/28)

- **शत्रुव्यसन अथवा राज्यविप्लव जन्य आवेग**– इसमें हाथी, घोड़े, रथ पर चढ़ना, अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करना, युद्धार्थ तैयारी करना आदि अनुभाव पाए जाते हैं।
- **वातजन्य आवेग**-वस्त्र से मुंह ढकना, आंखे रगड़ना, शीघ्र गति आदि अनुभाव होते हैं।

- **वर्षाजन्य आवेग**- छतरी पकड़ना, छांह का आश्रय लेना, सिर झुकाकर शीघ्र चलना, कपड़े भीगने से सर्वांग में पीड़ा आदि इनके अनुभाव हैं।
- **उत्पातजन्य आवेग**- भूकम्प, बिजली गिरना, तारे टूटना आदि कारणों से उत्पातजन्य आवेग होता है तथा इसमें भय, विवर्णता, विषाद, सर्वांग कम्पन तथा अंगशैथिल्य आदि अनुभाव होते हैं।
- **अग्निजन्य आवेग**- शरीर की व्याकुलता, आंखों में धुंआ लगना, आंसू, नि:श्वास, शीघ्र गति आदि इसके अनुभाव पाए जाते हैं।
- **कुंजर-भ्रमण जन्य आवेग**- मुड़ मुड़ कर पीछे देखना, स्तम्भ, भय, कम्पन, आश्चर्य, शीघ्रता से एक ओर हटना या भागना इसके अनुभाव है।
- **प्रियश्रवणजन्य आवेग**- अश्रु, रोमांच, आलिंगन, अभ्युत्थान, वस्त्र-आभूषण- धन दान आदि इसके अनुभाव होते हैं।
- **अप्रियश्रवण जन्य आवेग**- विलाप, आक्रन्द, भूमि पर लोटना, चित्तभ्रम आदि अनुभाव होते हैं।

27. **वितर्क**- सन्देह, दूर दृष्ट पदार्थ का अनिश्चय, विस्मृत पदार्थ की स्मृति आदि विभावों से उत्पन्न विचार को ही तर्क कहा जाता है। भौंहों को चढ़ाना, शिर, कम्पन, उंगलियां घुमाना आदि इसके अनुभाव होते हैं (भाव प्रकाशन 1/160)

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोंऽगुलिनर्तकः। दशरूपक 4/29.

28. अवहित्था- **अवहित्थं भयव्रीडाधाष्टर्यकौटिल्यसंभवम्।**
शून्यस्मितं कथाभंगो मिथ्याधैर्यं तदीक्षणम्।
अन्तर्व्यथा बहिर्गर्वभावनेत्यवहित्थजाः।। 1/149

भय, लज्जा, धृष्टता अथवा कुटिलता आदि विभावों से उत्पन्न विभावों से अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव उत्पन्न होता है। शून्य मुस्कान, कथाभंग, मिथ्या धैर्य, मन में दुख किन्तु बाह्य गर्वभावना आदि अवहित्था के अनुभाव हैं।,

शारदानतय की उपर्युक्त परिभाषा की अपेक्षा धनंजय के द्वारा प्रस्तुत परिभाषा अधिक सरल है-

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्तावहित्थाङ्गविक्रिया। दशरूपक 4/29

लज्जा आदि विभावों के कारण मुख पर प्रगट होने वाले हृदयस्थल विकारों को छिपाना ही अवहित्था नामक व्यभिचारी भाव है। नकली मुस्कराहट, कहते कहते भूल जाना, मन व्याकुल होने पर भी बाहर से धैर्य अथवा झूठा गर्व प्रदर्शित

करना आदि इसके अनुभाव हैं।

कालिदास कृत कुमारसम्भव में अवहित्था का सुन्दर उदाहरण है-

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। 6/84

अर्थात्- पिता के समीप नीचा मुख किए हुए पार्वती देवर्षि (नारद) के इस प्रकार बोलने पर (अपने हाथ के) लीला कमल की पखुंड़ियों को गिनती रही।

29. व्याधि- दशरूपककार ने व्याधि का कोई लक्षण नहीं दिया है। मात्र यह कहा है कि इस व्यभिचारी भाव का विस्तार आयुर्वेद आदि में प्राप्त होता है और सन्निपात आदि व्याधि कहलाती हैं (दशरूपक 4/29)

किन्तु शारदातनय ने उसका विस्तार से वर्णन करके भी ज्वर को ही व्याधि में परिगणित किया है (भाव प्रकाशन 1/156)। तदनुसार देश और काल आदि के अनुसार वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से व्याधि नामक व्यभिचारी भाव उत्पन्न होता है तथा यह व्याधि भाव ज्वर स्वरूप है।

व्याधि ज्वर में शिर:कम्प, मुख सूखना, शरीर पीड़ा, चिल्लाना, लाल नेत्र, शरीर की शिथिलता आदि अनुभाव पाए जाते हैं।

30. उन्माद- सन्निपात्, ग्रह आवेश आदि के कारण बिना सोचे विचारे बोलना या कार्य करना उन्माद नामक व्यभिचारी भाव होता है। रोना, गाना, चिल्लाना, हंसना, स्वयं को अथवा दूसरों को चोट पहुंचाना, चुप बैठे रहना आदि उन्माद के अनुभाव हैं। (दशरूपक 4/30)

भाव प्रकाशन में पात्र भेद से उन्माद के भिन्न भिन्न अनुभाव कहे गए हैं। (भाव प्रकाशन 1/159)

- ज्येष्ठ पात्र में प्रिय जन के वियोग के कारण उन्माद उत्पन्न होता है।
- मध्यम पात्र में प्रिय जन के नाश के कारण उन्माद उत्पन्न होता है।
- नीच पात्र में धन सम्पत्ति के नष्ट हो जाने से उन्माद हो जाता है।

31. विषाद-प्रारब्धकार्यासिद्धयादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत।।

दशरूपक 4/31.

प्रारंभ किए गए कार्य के सफल न होने, दैव के कारण, विपत्ति अथवा राजदोष

आदि होने पर सत्त्व (शक्ति या उत्साह) का कम हो जाना ही विषाद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। विषाद की स्थिति में निश्वास, उच्छ्वास, हृदय में संताप, सहायकों को ढूंढ़ना आदि अनुभाव होते हैं।

शारदातनय ने पात्र भेद से विषाद को तीन प्रकार का कहा है और तीनों में भिन्न भिन्न अनुभावों का कथन किया है (भावप्रकाशन 1/146)

- ज्येष्ठ पात्र में विषाद होने पर उपाय की चिन्ता करना, सहायता का अन्वेषण आदि अनुभाव होते हैं।
- मध्यम पात्र में विषाद के अनुभाव वैमनस्य, निद्राभंग, उत्साह नाश आदि होते हैं।
- नीच पात्र में विषाद व्यभिचारी भाव होने पर निःश्वास, उच्छ्वास, मूर्च्छा आदि अनुभाव होते हैं।

32. औत्सुक्य- किसी रम्य वस्तु की अभिलाषा, प्रगाढ़ अनुराग, इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब आदि विभावों के कारण समय को न सह पाना ही औत्सुक्य नामक व्यभिचारी भाव होता है तथा इसमें उच्छ्वास, त्वरा, लम्बी सांसे, पसीना, हृदय में संताप, विनम्र आदि अनुभाव पाए जाते हैं।

कालाक्षणमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छरतिसम्प्रभैः।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः।।

दशरूपक 4/32

कुमारसम्भव (7/22) का निम्नलिखित श्लोक शिवमिलन के लिए शीघ्रता करती हुई पार्वती में औत्सुक्य व्यभिचारी भाव द्रष्टव्य है-

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोयपाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।। 7/22

दर्पण में अपने रूप की शोभा कोदेखकर पार्वती शिव के समीप जाने के लिए तत्पर हो गई। प्रिय के द्वारा देख लिए जाने पर ही स्त्रियों का शृंगार सफल होता है।

33. चापल अथवा चपलता- मात्सर्य (ईर्ष्या), राग, द्वेष आदि के कारण चित्त का स्थिर न रहना ही चापल नामक व्यभिचारी भाव है। इसमें डांटना, फटकारना, कठोरता, ताडन, बन्धन, अपमान, स्वच्छन्दता आदि अनुभाव पाए जाते हैं। (दशरूपक 4/33; भावप्रकाशन 1/133.)

आचार्य भरत ने इन्हीं तैंतीस व्यभिचारी (संचारी) भावों का कथन किया था

और परवर्ती सभी आचार्यों ने न जाने किस कारणवश उन्हीं 33 व्यभिचारी भावों को माना। किन्तु व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति की अवस्था विशेष होते हैं। सम्भवत: उन सभी मुख्य चित्त वृत्तियों को आचार्यों ने इन तैंतीस संचारी भावों में समाहित मान है।

स्थायी भाव- रस निष्पत्ति के लिए विभिन्न भावों की आवश्यकता एवं स्वरूप का कथन तो हो चुका; किन्तु रसास्वाद का मूलभाव तो स्थायी भाव ही है। अलंकार शास्त्रीय सभी आचार्यों ने स्थायी एवं व्यभिचारी भावों का वर्णन किया है। स्थायी भाव प्रमाता के चित्त में वासना रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। कारण के न रहने पर भी स्थायी भाव की सत्ता बनी ही रहती है। संचारी भाव चित्त की अस्थिर दशा है किन्तु अधिक प्रबल होने के कारण स्थायी भाव स्थिर मनोदशा है। इसलिए स्थायी भाव अन्य किसी भाव से तिरस्कृत न होकर रसदशा को प्राप्त करता है-

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।। साहित्यदर्पण 3/174.
विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।। दशरूपक 4/34

उपर्युक्त दोनों परिभाषाएं लगभग एक सी है। विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों के द्वारा जो भाव तिरस्कृत (लुप्त, नष्ट) नहीं होता, वरन् उन सजातीय या विजातीय भावों को आत्मसात् कर लेता है जैसे कि समुद्र; आस्वाद का वह मूल भाव स्थायी भाव कहलाता है।

समुद्र में मीठा पानी भी आता है और खारा पानी भी। किन्तु कैसे भी पानी से समुद्र का खारापन प्रभावित नहीं होता, अपितु मीठे पानी को भी समुद्र आत्मसात् करके उसे खारा बना देता है। स्थायीभाव भी ऐसा ही होता है। आचार्यों ने आठ अथवा नौ स्थायी भावों का कथन किया है-

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च।।

साहित्यदर्पण 3/175

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय- ये आठ स्थायी भाव कहे गए हैं और शम भी (नवां) है।

साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने सभी स्थायी भाव की परिभाषाएं भी दी है। तदनुसार

1. रति- रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्। 3/176

मन के अनुकूल विषय में मन का प्रेमपूर्ण रूप में उन्मुख हो जाना ही रति स्थयी भाव है।

2. हास- वागादिवैकृतैश्चेतो विकासो हास इष्यते।। साहित्यदर्पण 3/176

वाणी, वेष, आकार आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना हास नामक स्थायी भाव होता है।

3. शोक- इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। 3/177.

इष्टनाश, अनिष्टप्राप्ति आदि से चित्त की विकलता ही शोक नामक स्थायी भाव कहलाती है।

4. क्रोध- प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते। 3/177

प्रतिकूल आचरण करने वाले शत्रु आदि के प्रति कठोरता या तीक्ष्णता का भाव क्रोध स्थायी भाव है।

5. उत्साह- कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते। 3/17

किसी कार्य को करने के आरम्भ से ही निरन्तर उत्कट आवेश (संरम्भ) को उत्साह नामक स्थायी भाव कहते हैं।

6. भय- रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्।। 3/178

किसी भयानक जीव, युद्धादि तथा अनपेक्षित रौद्रदर्शन के कारण चित्त को व्याकुलता प्रदान करने वाला भय नामक स्थायी भाव कहलाता है।

7. जुगुप्सा- दोषेक्षणादिभिर्गर्हाजुगुप्सा विषयोद्भवा। 3/179

दोषदर्शन आदि के कारण किसी वस्तु के प्रति घृणा को जुगुप्सा नामक स्थायी भाव कहते हैं।

8. विस्मय- विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु। 3/179
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।। 3/180

लोक सीमा का भी अतिक्रमण करने वाले विविध अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न पदार्थों के दर्शन श्रवण आदि से उत्पन्न चित्त का विस्तार ही विस्मय नामक स्थायी भाव कहलाता है।

9. शम- शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्। 3/180.

किसी भी प्रकार की इच्छा न होने की अवस्था में अन्तः करण के विश्राम से उत्पन्न सुख को शम नामक स्थायी भाव कहा जाता है।

उपर्युक्त स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रस रूप में आस्वादित होते हैं। सारे रसों का स्वरूप वर्णन किया ही जा चुका है।

OOO

प्रमुख अलंकार

प्रथम खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्यशास्त्रीय प्रतिपादन में प्रारम्भिक समय से ही अलंकार विवेचन प्राप्त होता है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में चार अलंकारों का कथन किया था। काव्यशास्त्रीय आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अलंकारों की पुष्ट विवेचनापूर्वक अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना कर दी थी आदि। प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में प्रमुख अलंकारों का विवेचन-वर्णन किया गया है। विभिन्न आचार्यों ने अलंकारों के स्वमतानुसार लक्षण और उदाहरण दिए हैं। सभी को देना अनावश्यक है अत: अधिकांशत: साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ के दिए गए लक्षण एवं उदाहरणों से ही अलंकारों को समझाया गया है।

'**अलंकरोति इति अलंकार**:- यह अलंकार की सामान्य परिभाषा है। जैसे हार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि शरीर की शोभा को बढ़ा देते हैं वैसे ही उपमा, अनुप्रास, रूपक आदि अलंकार काव्य के शरीर रूपी शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ा देते हैं। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के अलंकारों का यही लक्षण किया-

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' (दण्डी)।

किन्तु अलंकार काव्य का उत्कर्ष करने वाला तत्त्व है, काव्य का जीवनाधायक या आत्मत्त्व नहीं है। यदि काव्य में अलंकार न भी हो तो भी काव्यहानि नहीं होती। काव्य में अलंकर अस्थिर धर्म हैं। यही अलंकार और गुण का भेदक तत्त्व है। अलंकार स्थिर धर्म नहीं हैं किन्तु गुण काव्यके स्थिर धर्म है। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने अष्टम उल्लास में लिखा-

उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय:।।(सूत्र 87 काव्यप्रकाश)

'जो (शब्द तथा अर्थ रूप) अंगों के द्वारा कभी कभी उस (रस) को उपकृत (उत्कर्ष युक्त) करते हैं, वे अनुप्रास और उपमा आदि हार आदि के सदृश (काव्य के) अलंकार होते हैं।'

साहित्यदर्पणकार ने इसी को और सरल भाषा में स्पष्ट किया-

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।। (10/1)

'शोभा का उत्कर्ष कर देने वाले, रस आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है, वे अंगद (बाजूबन्द) आदि की भांति अलंकार कहलाते हैं।' विश्वनाथ ने इस कारिका की वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है कि अलंकार अस्थिर होते हैं। काव्य में गुण की उपस्थिति आवश्यक है किन्तु अलंकारों की नहीं।

आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का शरीर माना है। शब्द और अर्थ परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं। इनका सम्बन्ध जल और लहर के सदृश होता है अर्थात् ये भिन्न होकर भी अभिन्न होते हैं। इन्हीं के आधार पर अलंकारों के भी मुख्यतः दो भेद होते हैं। (1) शब्दाश्रित अलंकार या शब्दालंकार (2) अर्थाश्रित अलंकार या अर्थालंकार। अलंकारों में कुछ ऐसे भी अलंकार होते हैं जो शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहते हैं यथा संसृष्टि एवं संकर अलंकार।

शब्दालंकार का वैशिष्ट्य यह है कि यदि वाक्य या पद में उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द रख दिया जाए तो वहां वह शब्दालंकार नहीं रहता। किन्तु अर्थालंकार शब्द पर आश्रित नहीं रहते। एक शब्द के स्थान पर उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द रख देने पर भी उसी अर्थालंकार की स्थिति यथावत् बनी रहती है।

शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित रहने वाले अलंकारों का मिश्रण दो प्रकार का हो सकता है ''नीरक्षीरवत् तथा तिलण्डुलवत्। नीर और क्षीर, पानी और दूध एक दूसरे से जब मिल जाते हैं तब अलग नहीं किए जा सकते। उसी प्रकार जब दो या दो से अधिक अलंकार ऐसे मिले होते हैं कि उनका अलग करना कठिन हो, तब अलंकारों की यह मिलावट 'संकर' कहलाती है। जब अलंकारों का मिश्रण तिल तथा तण्डुल, तिल तथा चावल के मिलावट के समान हो, तब इसे संसृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार मिले हुए काले तिल और उज्ज्वल चावल को अलग कर लेना सहज होता है उसी प्रकार एक ही रचना में जहां अलंकार अलग अलग स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ते हैं वहां 'संसृष्टि' अलंकार होता है।'' काव्यशास्त्रीय आचार्य परम्परा में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस किस प्रमुख आचार्य ने कितने कितने अलंकार प्रतिपादित किए और भरतकथित चार अलंकार बढ़ते बढ़ते अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ में 124 अलंकारों की संख्या तक पहुंच गए।

प्रमुख अलंकारों का क्रमिक प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं-

अनुप्रास अलंकार

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वर की विषमता होने पर भी शब्द अर्थात् वर्ण/व्यंजन की समानता अनुप्रास अलंकार है।

अनुप्रास अलंकार में व्यंजन की समानता पाई जाती है। स्वरों की समानता में कोई भी विचित्रता नहीं होती। व्यंजनों की समता के समान स्वरों की समानता में चमत्कार नहीं होता। अत: व्यंजन की समानता में ही अनुप्रास अलंकार कहा गया, स्वरों की समानता में नहीं। यह अनुप्रास का सामान्य लक्षण है।

अनुप्रास अलंकार के पांच प्रकार कहे गए हैं- '**अनुप्रासः पंचधा ततः।**''

1. छेकानुप्रास- छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा।

व्यंजनों के सम्प्रदाय की एक ही बार स्वरूपगत तथा क्रमगत समानता (आवृत्ति) होने पर छेकानुप्रास होता है। 'रस: सर:' में स्वरूपगत साम्य आवृत्ति तो है किन्तु क्रमगत साम्य न होने से यहां छेकानुप्रास नहीं माना जा सकता। उदाहरण-

आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन्पदे पदे।
अयमेति मन्दं मन्दं कावेरीवारिपावन: पवनः।

इस उदाहरण में संयुक्त वर्ण न्ध, न्ध की उसी क्रम में एक बार आवृत्ति हुई है अत: यह छेकानुप्रास है। इसी प्रकार असंयुक्त व और र की, तथा बहुत से व्यंजन प-व-न की एक ही बार उसी क्रम में आवृत्ति हुई है।

2. वृत्त्यनुप्रास- अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद् वाप्येनकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते।।

अनेकस्य एकधा = अनेक व्यंजनो की एक प्रकार से (स्वरूपगत),

असकृद्= अनेक व्यंजनों की अनेक बार;

वाप्येनकधा = अनेक वर्णों की अनेक प्रकार से (स्वरूपगत भी और क्रमगत भी

एकस्य सकृत् अपि = एक ही वर्ग की एक ही बार, अथवा एक वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने पर वृत्ति अनुप्रास होता है। उदाहरण-

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतांकुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः, कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः।।

इस श्लोक के प्रथम चरणमें एक वर्ण 'म' की एक बार आवृत्ति हुई है और 'ध' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति है। द्वितीय चरण में 'क' और 'ल' वर्ण की उसी

क्रम से आवृत्ति होने से स्वरूपगत तथा क्रमगत दोनों सादृश्य हैं। चतुर्थ चरण में 'रसोल्लासैरमी' में 'र' तथा 'स' की आवृत्ति में स्वरूपगत समानता है, क्रमगत समानता नहीं है।

3. श्रुत्यनुप्रास- **उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।**
सादृश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।।

तालु, दन्त (कण्ठ, मूर्धा) आदि किसी एक स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजनों की ही समानता (स्वरों की समानता नहीं) को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। जिन वर्णों का उच्चारण स्थान समान है, ऐसे व्यंजनों की आवृत्ति होने पर श्रुत्यनुप्रास होता है। उदाहरण-

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः।।

इस उदाहरण में 'जीवयन्ति' 'याः' 'जयिनीः' पदों में जाकर और यकार का उच्चारण स्थान एक ही-तालु- है (इचुयशानां तालुः)। अतः यह श्रुत्यनुप्रास है।

4. अन्त्यानुप्रास- **व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।**
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।।

यदि पहले स्वर के साथ ही यथावस्थ व्यंजन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास होता है। (यथावस्थ का अर्थ है कि व्यंजन में अनुस्वर, विसर्ग आदि ज्यों के त्यों रहें।) यह अनुप्रास पद अथवा पाद के अन्त में ही होता है। उदाहरण-

केशः काशस्तबकविकासः, कायः प्रकटितकरभविलासः।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं, त्यजति न चेतः काममनल्पम्।।

इस पद्य के प्रथम तथा द्वितीय चरण में 'आसः' की आवृत्ति हुई है तथा तृतीय एवं चतुर्थ चरण में अन्त्य अल्पम् आवृत्त हुआ है अतः अन्त्यानुप्रास है।

5. लाटानुप्रास- शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं मेरे तात्पर्यमात्रतः। लाटानुप्रास इत्युक्तो-

केवल तात्पर्य भिन्न हो जाने पर शब्द अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है। जब शब्द और अर्थ दोनों ही आवृत्त हों किन्तु उनमें तात्पर्य की भिन्नता हो तो वह अनुप्रास लाटानुप्रास होता है। उदाहरण-

स्मेरराजीवनयने, नयने किं निमीलिते। पश्यनिर्जितकन्दर्पं कन्दर्पगं प्रियम्।।

इस उदाहरण में 'नयने' 'नयने' तथा 'कन्दर्प' कन्दर्प- में शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति हुई है, किन्तु तात्पर्य भिन्न भिन्न है। पहला 'नयने' पद सम्बोधन के तात्पर्य से युक्त है और दूसरा 'नयने' पद क्रिया से अन्वित होकर भिन्न तात्पर्य वाला

है। अतः लाटानुप्रास है।

यमक अलंकार

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।

यदि अर्थयुक्त हो, तो भिन्न अर्थ वाले स्वरव्यंजन के समूह की उसी क्रम में आवृत्ति को यमक अलंकार कहा जाता है।

यमक अलंकार में आवृत्त होने वाले स्वरव्यंजन समूह में निम्नलिखित वैशिष्ट्य अपेक्षित है-

1. समानार्थक पदों/ शब्दों की आवृत्ति होने पर यमक अलंकार नहीं होता।
2. यदि शब्द अर्थवान् है तो आवृत्त होने पर उसका अर्थ भिन्न होना चाहिए।
3. प्रथम शब्द अर्थवान् है, किन्तु आवृत्त शब्द निरर्थक हो तो भी यमक अलंकार होता है।
4. दोनों शब्द निरर्थक होने पर भी यमक अलंकार होताहै।
5. यमक अलंकार में- स्वरव्यंजन समूह की आवृत्ति उसी क्रम में होनी चाहिए। उनका क्रम बदल जाने जाने पर यमक नहीं होगा- यथा दमो मोदः।

उदाहरण- **नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपंकजम्।**
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः।।

इस उदाहरण में यमक अलंकार की सारी स्थितियां प्राप्त हो जाती हैं-

1. आवृत्त कोई शब्द समानार्थक नहीं है।
2. प्रथम चरण में 'पलाश' शब्द अर्थवान् है, उसका अर्थ है पत्ता। आवृत्त होने पर भी वह अर्थवान् है और दूसरे 'पलाश' का अर्थ है 'ढाक' (का पेड़)
3. द्वितीय चरण में 'पराग' अर्थवान् है और उसका अर्थ है पुष्प रज आवृत्त हुआ दूसरा 'पराग' शब्द निरर्थक है क्योंकि पूरा शब्द 'परागत' है जिसमें पराग की आवृत्ति है।
4. तृतीय चरण में प्रथम 'लतान्त' निरर्थक है क्योंकि मृदुल-तान्त में से ल निकाला गया है। दूसरा 'लतान्त' (लताओं के प्रान्त भाग) सार्थक है।
5. चतुर्थ चरण में 'सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः' में रभिंसु रभिंसु दोनों ही निरर्थक हैं।
6. उदाहरण में सर्वत्र स्वरव्यंजनसमूह की उसी क्रम में आवृत्ति हुई है।

श्लेष अलंकार

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।

श्लिष्ट पदों के द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान होने पर श्लेष अलंकार होता है।

श्लिष्ट का सामान्य अर्थ है जुड़ा हुआ। अत: जब किसी ऐसे पद का एक बार ही प्रयोग हो, जिससे अनेक अर्थ निकलते हैं तब वहां श्लेष अलंकार होता है। यह आठ प्रकार का कहा गया है–

वर्णप्रत्ययलिंगानां प्रकृत्योः पदयोरपि।
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः।।

वर्ण, प्रत्यय,लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन भाषा– इनके श्लिष्ट होने के कारण श्लेष के ये आठ भेद हो जाते हैं–

वर्ण श्लेष– **प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।**
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः कर सहस्त्रमपि।।

विधि (भाग्य) अथवा विधु (चन्द्रमा) के प्रतिकूल हो जाने पर सब साधन विफल हो जाते हैं। गिरते हुए (अस्त होते हुए) सूर्य को अवलम्ब देने के लिए सहस्र कर (किरण, हाथ) भी पर्याप्त न हुए।

विधि और विधु दोनों शब्दों के सप्तमी एकवचन में विधौ रूप बनता है। इस 'औ' वर्ण के कारण ही विधौ पद के दो अर्थ निकले। अत: यहां वर्ण श्लेष है।

प्रत्ययश्लेष एवं वचनश्लेष **किरणा हरिणांकस्य दक्षिणश्च समीरणः।**
कान्तोत्संगजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः।।

चन्द्रमा की किरणें और दक्षिण समीर– **यह सब** या ये **सब** प्रिया के संग रहने वालों के लिए सुधावर्षी हैं।

यहां कृ धातु से क्विप् अथवा क प्रत्यय से बने सुधाकिर: पद में प्रत्यय श्लेष है। 'सर्व एव' में वचन श्लेष है क्योंकि एकवचन सर्व: एव भी सन्धि होकर सर्व एव बनता है और बहुवचन सर्वे एव भी सन्धि होकर सर्व एव बन जाता है।

लिंग श्लेष– **विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।**
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी।।

लसत्तरलहारिन् शब्द से 'लसत्तरलहारिणी' पद नपुसंकलिंग प्रथमा द्विवचन में भी सिद्ध होता है तथा स्त्रीलिंग प्रथमा एकवचन में भी सिद्ध होता है। अत: इस पद में लिंग श्लेष है।

प्रकृति श्लेष– **अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।**
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः।।

यह राजपुत्र समस्त शास्त्रों को हृदय में (वक्ष्यति= वह् धातु लृट् लकार) धारण करेगा और विद्वानों में (वक्ष्यति= वच् धातु लृट लकार) कहेगा। शत्रुओं (अमित्राणां)

की शक्ति का नाश करने वाला और मित्रों की शक्ति वृद्धि करने वाला होगा।

इस उदाहरण में वह् और वच् धातु में लृट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन का तिप् प्रत्यय समान होने पर भी केवल धातुओं का भेद होने से प्रकृति श्लेष है।

पदश्लेष- **पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनि:शेष परिजनं देव।**
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्।।

यह श्लोक कोई याचक किसी राजा से कह रहा है- हे देव, अब मेरा और आपका घर एक समान है। आप राजा का घर, पृथु-कार्तस्वर-पात्र अर्थात् बड़े बड़े सोने के पात्रों से युक्त है और मेरा घर पृथुक-आर्तस्वर-पात्र अर्थात् बालकों के रोने के स्वर से युक्त हैं। आपका घर भूषित-नि:शेष-परिजन अर्थात् अलंकृत सम्पूर्ण सेवकों से युक्त है और मेरा घर भू-षित-नि:शेष-परिजन अर्थात् भूमि पर पड़े हुए समस्त परिजनों वाला है। आपका घर बिलसत्-करेणु-गहन अर्थात् विलास करती हुई हथिनियों से युक्त है और मेरा घर विलसत्क-रेणु-गहन अर्थात् बिल में रहने वाले चूहों से निकाली गई धूल से भरा है। इस उदाहरण में तीनों पद शिलष्ट हैं जिनमें पदभंग करने पर विभक्ति और समास भी भिन्न हो गए हैं। अत: यह पदश्लेष का उदाहरण है।

विभक्ति श्लेष- **सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।**
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम्।।

पकड़ा गया एक डाकू शिवमन्दिर के समीप खड़े अपने पुत्र को सम्बोधित करके यह श्लोक कह रहा हैं। विभक्ति श्लेष के कारण इस पद्य से शिव स्तुति का अर्थ भी निकलता है और पुत्र के प्रति गूढ़ कथन भी-

'हे हर (शिव)! आप सबके सर्वस्व हैं, आप संसार के छेदन में तत्पर हैं। आपके सारे व्यवहारों से परोपकार और न्याय होता है।'

'हे (पुत्र) तू सबका सर्वस्व लूट ले। सब को काट डालने में तत्पर हो। किसी का भी उपकार मत कर। दूसरों को पीड़ादायी व्यवहार विस्तृत कर।'

यहां 'हर' एक ओर शिव का सम्बोधन होने से सुबन्त है और दूसरी ओर हृ धातु का तिङन्त रूप है। इसी प्रकार 'भव' भी सम्बोधन होकर सुबन्त रूप है और भू धातु का तिङन्त रूप भी। अत: यह विभक्ति श्लेष का उदाहरणहै।

भाषा श्लेष- दो भिन्न भाषाओं में पढ़े जा सकने योग्य पद्य के भिन्न भिन्न अर्थ होने पर भाषा श्लेष होता है।

वक्रोक्ति अलंकार

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा।।

किसी के अन्यार्थक वाक्य को कोई दूसरा जन श्लेष से या काकु से अन्य अर्थ में युक्त कर दे, वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है। वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है- श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति।

वक्ता जब अन्य अभिप्राय से वाक्य कहे और श्रोता श्लेष अथवा काकु से कुछ अन्य ही अर्थ कल्पित कर ले तो वहां वक्रोक्ति अलंकार होता है।

श्लेष वक्रोक्ति- **के यूयं, स्थल एव संप्रति वयं, प्रश्नो विशेषाश्रयः**
किं ब्रूते विहगः, स वा फणिपतिर्यत्राति सप्तो हरिः।
वामा यूयमहोविडम्बरसिकः कीदृक्स्मरो वर्तते
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्येव योषिद्भ्रमः।।

'के यूयं, स्थल एवं संप्रति वयं- 1. किं शब्द के प्रथमा बहुवन में 'के' पद बनता है- अर्थ हुआ- आप कौन है?

2. 'क' (जल) शब्द की सप्तमी एकवचन में 'के' पद बनता है- अर्थ हुआ- आप जल में है?

प्रश्नकर्ता ने पूछा- आप कौन हैं? उत्तरकर्ता ने 'के' पद के दूसरे श्लिष्ट अर्थ- 'आप जल में हैं?' को लक्ष्य करके उत्तर दिया कि 'अभी' तो हम स्थल पर है।'आदि। अतः यहां श्लेष वक्रोक्ति है।

काकु वक्रोक्ति- **काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे।**
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते।

कोयल की कुहू ध्वनि वाले तथा आम्रमंजरियों से मनोहर समय में अपराधी पति के परित्याग से उस (नायिका) का चित्त खिन्न नहीं होता।

यहां 'न दूयते' में 'न' निषेध का सूचक था, जिसे किसी श्रोता सखी ने काकु (कण्ठध्वनि) से उच्चारण करके 'दूयते एव' (दुखी ही होता है।) इस प्रकार अन्य अर्थ में कल्पित कर दिया। अतः यहां काकु वक्रोक्ति है।

उपमा अलंकार

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।

जहां उपमान और उपमेय रूप दो पदार्थों का एक वाक्य में सादृश्य हो और वैधर्म्य कथन न हो, वहां उपमा अलंकार होता है। यथा कमलमिव मुखं मनोज्ञम्।

उपमा अलंकार में चार तत्त्व होते हैं- उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचकपद।

1. **उपमेय**- प्रस्तुत विषय या वर्ण्यवस्तु को उपमेय कहते हैं जैसे मुख।
2. **उपमान**- अप्रस्तुत वस्तु या अवर्ण्यविषय को उपमान कहते हैं- यथा कमल।
3. **सामान्य धर्म**- उपमेय और उपमान में जो पारस्परिक सादृश्य होता है, वह साधारण या समान धर्म कहलाता है यथा मनोज्ञता।
4. **उपमावाचक पद**- वाक्य में जो पद समानतावाचक होता है, उसे औपम्यवाची पद कहते हैं- यथा इव

इन्हीं चार तत्त्वों के आधार पर उपमा अलंकार के दो भेद होते हैं- पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा- सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्.....।।

यदि वाक्य में सामान्य धर्म, उपमावाचक शब्द, उपमेय और उपमान- ये चारों तत्त्व पाए जाएं तो पूर्णोपमा अलंकार होता है- यथा कमलमिव मनोज्ञं मुखम्।

लुप्तोपमा- लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः।
त्रयाणां वानुपादाने.............।।

यदि वाक्य में उपमा के चार तत्त्वों में एक दो या तीन न पाए जाएं वहां लुप्तोपमा होती है यथा कमलमिव मुखम्। इस उदाहरण में सामान्यधर्म का लोप है।

वस्तुतः विश्वनाथ ने पूर्णोपमा के छह और लुप्तोपमा के इक्कीस भेदों का सविस्तार वर्णन किया है।

इनके अतिरिक्त भी विश्वनाथ ने उपमा के तीन प्रकार और माने हैं- एक देश विवर्तिनी उपमा, रशनोपमा, मालोपमा।

एकदेशविवर्तिनी उपमा- एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यत्वे।
भवेतां यत्र साम्यस्य...........।।

जब वाक्य में किसी का साधारण धर्म वाच्य हो और किसी का गम्य अर्थात् प्रतीयमान हो, वहां एकदेशविवर्तिनी उपमा होती है। यथा-

नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव।।

अर्थात् नेत्रों के समान नील कमलों, मुखों के सदृश रक्त कमलों और स्तनों के समान चक्रवाकों से सरोवर लक्ष्मी पग पग पर सुशोभित हो रही है।

इस उदाहरण में उत्पल आदि का नेत्र आदि के साथ साधर्म्य 'इव' शब्द से

वाच्य है और सरः श्री का सुन्दरी के साथ साधयर्म्य गम्य है अतः एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

रशनोपमा- कथिता रशनोपमा। यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।।

उपमेय जहां उत्तरोत्तर वाक्यों में उपमान हो जाए, वहां रशनोपमा कही जाती है। यथा-

चन्द्रायते शुक्ल चापि हंसो, हंसायते चारुगतेन कान्ता।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि, वारीयते स्वच्छतया विहायः।।

(शरद ऋतु में) श्वेत कान्ति से युक्त हंस चन्द्रमा के समान है, मनोहर गमन से युक्त कामिनी हंस जैसी लगती है; स्पर्श में सुखदायी होने के कारण जल कान्ता के समान मालूम होता है और स्वच्छता के कारण आकाश जल के समान लगता है।

प्रथम वाक्य में हंस उपमेय है जो अगले वाक्य में उपमान बन गया है। पूर्व वाक्य में कान्ता उपमेय है जो अगले वाक्य में उपमान बन गई। जल पहले उपमेय है किन्तु अगले काव्य में उपमान बन गया है। अतः इस उदाहरण में रशनोपमा है।

मालोपमा- मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।

जब एक उपमेय के अनेक उपमान हों, तो वहां मालोपमा होती है। यथा-

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी। यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा।

अर्थात् कमलों से सरोवर, चन्द्रमा से रात्रि, और युवावस्था से स्त्री मनोहर हो जाती है इसी प्रकार अच्छी नीति से राज्यश्री मनोहर हो जाती है। इस उदाहरण में एक उपमेय राज्यश्री के लिए तीन उपमान, कमल, चन्द्रमा तथा यौवन होने से मालोपमा अलंकार है।

वस्तुतः उपमा अलंकार को आचार्यों ने सभी अर्थालंकारों के मूल में कहा था। उपमा अलंकार के भेदोपभेद समयक्रम में बढ़ते ही गए और उनकी संख्या 160 तक पहुंच गई। किन्तु वस्तुतः उनमें से अधिकांश शास्त्रीय पाण्डित्य के ही दिग्दर्शक हैं।

अनन्वय अलंकार

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः।

जहां काव्य में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों हो, वहां अनन्वय अलंकार होता है। यों भी कहा जा सकता है कि जहां उपमेय का अपने से भिन्न अन्य किसी उपमान से सम्बन्ध (अन्वय) न हो वहां अनन्वय अलंकार होता है। यथा-

राजीवमिव राजीवं, जलं जलमिवाजनि।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्गमे।।

शरद ऋतु के उदय होने पर कमल कमल की भांति, जल जल की ही भांति तथा चन्द्र चन्द्रमा के ही समान सुन्दर (अतन्द्र) हो गया।

यहां कमल, जल और चन्द्रमा उपमेय के लिए अन्य कोई उपमान नहीं है। हर वस्तु अपनी ही तरह की कही गई है। अतः अनन्वय अलंकार है।

उपमेयोपमा अलंकार

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।

एक वाक्य में जो उपमान है वह अगले वाक्य में उपमेय हो जाए और पहले वाक्य में जो उपमेय था वह पर्याय क्रम से अगले वाक्य में उपमान हो जाए, तो वहां उपमेयोपमा अलंकार होता है। यथा–

कमलेन मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा, विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति बत यस्य।।

उस (राजा) की राज्यलक्ष्मी बुद्धि की तरह सुशोभित होती है और बुद्धि निरन्तर लक्ष्मी की भांति सुशोभित होती है। इसी प्रकार जिसका शरीर कान्ति की भांति और कान्ति शरीर की भांति, पृथिवी धैर्य कीभांति और उसका धैर्य पृथिवी की भांति सुशोभित होता है।

यहां प्रथम वाक्य में कमला उपमेय है और दूसरे वाक्य में कमला उपमान हो गई है। इसी प्रकार पहले तनु और धरणी उपमेय है और अगले वाक्य में उपमान बन गए है और पर्याय क्रम से विभा और धृति पहले उपमान थे और अगले वाक्यों में उपमेय बन गए हैं अतः यहां उपमेयोपमा अलंकार है।

स्मरण अलंकार

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते।

सदृशवस्तु के अनुभव से अन्य वस्तु की स्मृति के वर्णन को स्मरण अलंकार कहते हैं। यथा

अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खंजनमंजुलम्।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चंचललोचनम्।।

क्रीडा करते हुए खंजनों से रमणीय इस कमल को देखकर मैं चंचल नेत्रों से युक्त उसके मनोहर मुख का स्मरण करता हूं।

यहां खंजनयुक्त कमल को देखकर चंचल नेत्र युक्त मुख की स्मृति हो आने से स्मरण अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

प्रकृत (उपमेय) की सम (समान) अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं।

सम्भावना का अर्थ है उत्कृष्ट कोटिक संशय। सामान्यत: संशय में दो या अधिक समान कोटियां होती हैं जैसे अंधेरे में कोई खम्भा देखकर संशय होना कि यह पुरुष है या खम्भा। इस संशय में ज्ञान की दोनो कोटियां समान हैं। किन्तु जब दो में से एक कोटि उत्कृष्ट हो तो उसे सम्भावना कहा जाता है। इस प्रकार की सम्भावना जब कवि प्रतिभा से उत्पन्न हो, तो वह उत्प्रेक्षा अलंकार कहलाता है। इस अलंकार में उपमान की कोटि प्रबल होती है और उपमेय उपमान में संशय कल्पित होता है वास्तविक नहीं। यथा-

लिम्पतीव तमोऽगानि वर्षतीवांजनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अन्धकार अंगों को लीप सा रहा है, आकाश काजल की मानो वर्षा कर रहा है, और दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गई है।

इस उदाहरण में अन्धकार का व्याप्त होना उपमेय है जिसकी सम्भावना लेपन उपमान के साथ की गई है। अत: उत्प्रेक्षा अलंकार है।

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।
उत्प्रेक्षावाचका शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः।।

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्,- ये सब उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि भी ऐसे ही शब्द है। इनका प्रयोग उपमा अलंकार में नहीं होता।

'इव' शब्द उपमा एवं उत्प्रेक्षा दोनों का वाचक है। उत्प्रेक्षा में 'इव' का प्रयोग प्राय: क्रियापद के साथ होता है- लिम्पतीव तमोऽगानि। आदि। किन्तु जहां क्रियापद के साथ 'इव' न हो, तो फिर उत्प्रेक्षा का लक्षण ध्यान रखना चाहिए। उपमा में सादृश्य है और उत्प्रेक्षा में सम्भावना। उपमा में उपमेय के साथ उपमान की वास्तविक सत्ता होती है और उत्प्रेक्षा में उपमान कल्पित होता है।

ससन्देह अलंकार

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।

उपमेय में उपमान का संशय करना सन्देह अलंकार है। उपमेय और उपमान में परस्पर भेद कथन कर देने या भेद कथन न करने पर भी सन्देह अलंकार ही होता है-

विश्वनाथ की निम्नलिखित परिभाषा और अधिक स्पष्ट है-

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।

प्रकृत अर्थात् उपमेय में अन्य अर्थात् उपमान के संशय को सन्देह अलंकार कहते हैं, किन्तु यह संशय कवि प्रतिभा के कारण चामत्कारिक होना चाहिए, लौकिक संशय नहीं।

भेदोक्त सन्देह अलंकार-

अयं मार्तण्डः किं? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः।।

क्या यह सूर्य है? किन्तु वह तो सात घोड़ों से युक्त होता है। (तब) क्या यह अग्नि है? किन्तु निश्चित रूप से वह सारी दिशाओं में नहीं फैलती है। (तब) क्या यह यमराज है? किन्तु वह तो भैंसे पर सवार होते हैं। इस प्रकार युद्धभूमि में तुम (राजा) को देखकर शत्रुवीर इस प्रकार सन्देह किया करते हैं।

इस उदाहरण में उपमेय/ प्रकृत राजा के लिए सूर्य उपमान का संशय होता है। किन्तु सूर्य के सात घोड़े होने से भेद कथन करके संशय का निराकरण तो होता है फिर भी वह कौन है यह निश्चय नहीं होता और पुनः उपमेय राजा में अग्नि का संशय होता है। और उसका भी भेद कथन हो जाता है। आदि।

भेदानुक्त संदेह अलंकार-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः।
श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।

इस उदाहरण में उपमेय प्रजापति में उपमान चन्द्र आदि का संशय किया गया है। किन्तु परस्पर भेद कथन न होने से भेदानुक्त सन्देह अलंकार है।

रूपक अलंकार

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

उपमान और उपमेय का जो अभेद (वर्णन) है, वह रूपक (अलंकार) होता है। परस्पर भेद होने पर भी जब सादृश्य की अधिकता के कारण उपमेय और उपमान का अभेदारोप वर्णन किया जाता है तब रूपक अलंकार होता है। वह आरोप काल्पनिक होता है वास्तविक नहीं; यथा-मुखकमलम्।

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी
न्यन्तर्ध्यानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लांछनस्यच्छलेन।।

चांदनी रूप भस्म से व्याप्त होने के कारण धवलवर्णी, तारों रूपी अस्थियों को धारण किए हुए, सब वस्तुओं को छिपा लेने (अन्तर्ध्यान होने) के व्यसन की रसिका, यह रात्रिरूपी कापालिकी चन्द्रकलारूप कपाल में कलंक के बहाने से सिद्धांजनचूर्ण को रखे हुए द्वीप से द्वीप में घूमती रहती है।

इस उदाहरण में रात्रि उपमेय के ऊपर कापालिकी उपमान का अभेदारोपण होने के कारण रूपक अलंकार है।

भ्रान्तिमान् अलंकार

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान्, प्रतिभोत्थितः।

जब साम्य के कारण प्रस्तुत वस्तु में (उपमेय में) अप्रस्तुत वस्तु (उपमान) का भ्रम कवि प्रतिभा के द्वारा वर्णित हो, वहां भ्रान्तिमान् अलंकार होता है।

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः,
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताप्यंशुकमिति,
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति।।

खप्पर में (पड़ी हुई) चन्द्रमा की किरणों को, यह दूध है, समझ कर, बिल्ली चाट रही है; वृक्षों के छिद्रों में लिपी पड़ी (चन्द्र किरणों) को हाथी, कमल नाल है यह समझ कर समेट रहा है; सुरत क्रीडा के पश्चात् स्त्री पलंग पर फैली (किरणों) को अपना श्वेत वस्त्र समझ कर उठा रही है, अरे, कान्ति से मदमत्त ने चन्द्रमा ने सारे संसार में विप्लव कर दिया है।

इस उदाहरण में प्रस्तुत उपमेय चन्द्रकिरणों के दूध आदि से अत्यधिक सादृश्य के कारण चन्द्रकिरणों में दूध, कमलनाल, श्वेत वस्त्र की भ्रान्ति कवि प्रतिभा के कारण हो रही है। अतः इसमें भ्रान्तिमान् अलंकार है।

अपह्नुति अलंकार

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यत्स्थापनं स्यादपह्नुतिः।

प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध करके जब अन्य अर्थात् उपमान की स्थापना की जाती है तो वहां अपह्नुति अलंकार होता है।

उपमेय का कथन करके भी जब उसको असत्य कहकर उपमान को सत्य रूप से स्थापित कर दिया जाए, तब वहां अपह्नुति अलंकार होता है। यथा–

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा: नवफेनभंगा:।
नाऽयं शशी कुंडलितो फणीन्द्रो, नाऽसौ कलंक: शयितो मुरारि:।

यह आकाशमंडल नहीं है, समुद्र है; तारे नहीं है नए फेन के टुकड़े हैं। यह चन्द्रमा नहीं है, यह तो कुंडली मारे हुए शेषनाग है। यह (चन्द्रमा का) कलंक नही है यह तो लेटे हुए विष्णु हैं।

इस उदाहरण में आकाश, तारे, चन्द्रमा और कलंक प्रकृत उपमेय हैं। उन सबका निषेध करके अन्य अप्रकृत उपमान समुद्र, नवफेनभंग, कुंडलित शेषनाग और लेटे हुए विष्णु को क्रमश: स्थापित किया गया है अत: अपह्नुति अलंकार है।

निश्चय अलंकार

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चय: पुन:।

अन्य अर्थात् उपमान का निषेध करके प्रकृत अर्थात् उपमेय का स्थापन करना ही निश्चय अलंकार है। यथा–

वदनमिदं न सरोजं, नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर, मुधा किं परिभ्रमसि।।

एक नायक भ्रमर से कह रहा है– हे भ्रमर! यह मुख है कमल नहीं है, ये दोनों नेत्र हैं नील कमल नहीं। तुम इसके समीप व्यर्थ ही क्यों चक्कर काट रहे हो।

इस उदाहरण में उपमान कमल और नीलकमल का निषेध करके उपमेय मुख और नयन की स्थापना की गई है अत: निश्चय अलंकार है। यह अलंकार अपह्नुति अलंकार से एकदम उलट है। अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना होती है और निश्चय अलंकार में उपमान का निषेध करके उपमेय को स्थापित किया जाता है –

अतिशयोक्ति अलंकार

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।

अध्यवसाय के सिद्ध हो जाने पर अतिशयोक्ति अलंकार कहा जाता है।

प्रकृत उपमेय का निगरण करके अप्रकृत उपमान के साथ उसके अभेद ज्ञान को अध्यवसाय कहा जाता है।

जब उपमेय पूर्णत: लुप्त हो और उपमान के साथ उसका अभेद ज्ञान सिद्ध हो जाए तो अतिशयोक्ति अलंकार होता है। यथा–

कमलमनम्भसि कमले च, कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्।।

बिना जल के कमल (नायिका का मुख), कमल में दो नीलकमल (रूप नेत्र) और वे स्वर्णलता (नायिका के शरीर) में लगे है और वह स्वर्णलता सुकुमार और सुन्दर है- यह कैसी अनर्थ परम्परा है।

इस उदाहरण में कमल, नीलकमल, स्वर्णलता उपमानों के द्वारा क्रमशः मुख, नेत्र तथा नायिका शरीर का निगरण कर लिया गया है। मुख आदि कमल आदि के रूप में अभिन्नतया निश्चित किए गए हैं अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार

...........प्रतिवस्तूपमा तु सा। सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।।

जहां एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार भिन्न भिन्न शब्दों में कहा जाएं वहां प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।

उपमेय और उपमान वाक्यों में जब साधारण धर्म एक ही हो किन्तु दोनों वाक्यों में वह साधारण धर्म भिन्न भिन्न शब्दों में कथित हो (दो बार कहा गया हो) तो उसे प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।

यह अलंकार दो प्रकार का होता है- **केवल प्रतिवस्तूपमा** तथा **माला प्रतिवस्तूपमा।**

केवल प्रतिवस्तूपमा- यथा-

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपांकितं रत्नम्।।

देवीभाव (पटरानी पद) को प्राप्त यह रानी अब साधारण (परिवार पद) स्त्री कैसे समझी जा सकती है; देवता के रूपमें अंकित रत्न (साधारण आभूषण के समान) उपभोग के योग्य नहीं होता।

इस उदाहरण में पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय है और उत्तरार्ध वाक्य उपमान है। दोनों में अनौचित्य साधारण धर्म है। इसको पूर्वार्द्ध वाक्य में 'कथं भजतु' पद से तथा उत्तरार्ध वाक्य में 'न खलु परिभोगयोग्यं' पद से भिन्न भिन्न शब्दों में कहा गया है अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

माला प्रतिवस्तूपमा-

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता।।

यदि अग्नि जलाती है तो इसमें आश्चर्य क्या है? यदि पहाड़ों में गौरव

(भारीपन) है तो इससे क्या? समुद्र का जल सदा ही खारा होता है और विषादयुक्त न होना सज्जनों का स्वभाव ही है।

इस उदाहरण में 'सहज धर्म का होना या दिखना आश्चर्यजनक नहीं होता।' यह साधारण धर्म भिन्न भिन्न शब्दों में निर्दिष्ट किया गया है। इस पद्य में चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ उपमेय है और अन्य तीनों चरणों का वाक्यार्थ उपमान है। जिस प्रकार अग्नि का सहज धर्म दाहकत्व है, पहाड़ों का स्वाभाविक धर्म गुरुता (भारीपन) है, समुद्र का क्षारत्वधर्म स्वाभाविक है और वे तीनों ही विस्मयजनक नहीं है उसी प्रकार सज्जनों में अविषादिता धर्म स्वाभाविक होने से आश्चर्यजनक नहीं है। इस तरह यह माला प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण है।

दृष्टान्त अलंकार

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्। (काव्यप्रकाश)
दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।। (साहित्यदर्पण)

दो वाक्यों में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि के बिम्ब प्रतिबिम्बभाव को दृष्टान्त अलंकार कहते हैं। यह बिम्ब प्रतिबिम्बभाव साधर्म्य अथवा वैधर्म्य दोनों प्रकार से हो सकता है-

साधर्म्य से दृष्टान्त-

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुदवत्याः।।

तुम को (नायक को) देखते ही उस (नायिका) का काम से सन्तप्त हृदय शान्त हो जाता है, चन्द्रमा को देखने पर कुमुदनी का फूल खिल जाता है।

इस उदाहरण में पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय है तथा उत्तरार्द्ध वाक्य उपमान है। दोनों वाक्यों के नायक एवं चन्द्रमा, नायिका-कुमुदनी, मन-कुसुम, निर्वाति-विकसति में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलंकार है।

वैधर्म्य से दृष्टान्त

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांसवः।।

(हे राजन्) साहसपूर्ण कार्यों में आनन्द प्राप्त करने वाले तुम्हारे कृपाण की ओर हाथ बढ़ाते ही शत्रुसैनिक इधर उधर भाग गए। वायु न चलने पर ही धूल स्थिर रहती है।

यहां धूल और शत्रुसैनिकों में तथा पलायन और अस्थिरता में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव है। 'अवाते पांसवः स्थिरतां दधति' का पर्यवसान 'वाते पांसवः स्थिरतां न दधति'

इस रूप में होने के कारण यह वैधर्म्य से दृष्टान्त अलंकार है।

दीपक अलंकार

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।।

जहां उपमेय और उपमान रूपी अनेक पदार्थों (कारकों) का एक ही क्रिया रूप धर्म से सम्बन्ध हो, अथवा अनेक क्रियाओं का एक कारक से सम्बन्ध हो तो दीपक अलंकार होता है। यथा–

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।।

(नारद श्रीकृष्ण से कह रहे हैं) विजय की इच्छा वाले उस (शिशुपाल) के द्वारा अपने बल के अहंकार से आज भी संसार को पहले की भांति दुख दिया जा रहा है। सती स्त्री और दृढ़ स्वभाव जन्मान्तर में भी (उसी) पुरुष को जाता है (प्राप्त करता है।)

यहां उपमेय 'निश्चला प्रकृति' और उपमान 'सती योषित्' का एक ही क्रियाधर्म 'अभ्येति' से सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है।१

दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीयमायाति याति हसति श्वसिति दक्षणेन।।

कामदेव के शरों से बिंधी हुई वह बेचारी (नायिका) तुम प्राणनाथ के दूर चले आने पर क्षण क्षण में उठती है, लेट जाती है, तुम्हारे घर की ओर आती है, वापस चली जाती है, हंसती है और लम्बी सांसे भरती है।

इस उदाहरण में नायिका रूप एक कारक से उत्तिष्ठति, स्वपिति आदि अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध होने के कारण दीपक अलंकार है।

तुल्ययोगिता अलंकार

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसंबंधः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।।

केवल प्रकृत (प्रस्तुत) अथवा केवल अप्रकृत (अप्रस्तुत) पदार्थों का जब एक धर्म से सम्बन्ध हो तो तुल्ययोगिता अलंकार होता है।

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोग सखि! हृदन्तः।।

कोई सखि अपनी सखी से कह रही है– हे सखी! पीला सूखा चेहरा, स्नेह से

भरा हृदय और आलस्य युक्त शरीर तुम्हारे हृदय के असाध्य (क्षेत्रिय) रोग को सूचित कर रहा है।

इस उदाहरण में विरह के सारे अनेक अनुभाव प्रकृत हैं, जिनके साथ 'आवेदयति' रूप एक क्रिया का संबंध होने से तुल्ययोगिता अलंकार है।

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य।।

(नायक अपनी नायिका से कह रहा है) मनोहर विलास युक्त तुम्हारे नेत्रों के सम्मुख कुमुद, कमल और नील कमलों की पंक्ति क्या है? और तुम्हारे मुख के सामने अमृत, चन्द्रमा (अमृत रश्मि) और कमल (अम्बुजन्म) एकदम प्रतिहत हो गए हैं।

इस उदाहरण में नायिका सौन्दर्य का वर्णन किया गया है अतः पूर्वार्द्ध में नेत्र तथा उत्तरार्ध में मुख प्रकृत हैं। नेत्र के लिए कुमुद, कमल और नीलकमल और मुख के लिए अमृत, चन्द्र तथा कमल अप्रकृत है। पूर्वार्ध के अप्रकृत अर्थों के साथ 'का' पद से अभिव्यंग्य निन्दा रूप एक धर्म का संबंध है। इसी प्रकार उत्तरार्ध के तीनों अप्रकृत पदार्थों का प्रतिहतत्व रूप एक धर्म से सम्बन्ध है। अतः यह अप्रकृत अर्थों के साथ एक धर्म के सम्बन्ध का तुल्ययोगिता अलंकार का उदाहरण है।

व्यतिरेक अलंकार

उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

जब उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य वर्णन हो तो व्यतिरेक अलंकार होता है। व्यतिरेक का अर्थ ही है अधिक्य। अलंकारों में उपमेय की अपेक्षा उपमान में आधिक्य होता है किन्तु जब कवि उपमान की अपेक्षा उपमेय में आधिक्य वर्णन कर दे तो वहां व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा-

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु।।

यह सच है कि चन्द्रमा पुनः पुनः क्षीण होकर भी फिर बढ़ जाता है किन्तु गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता। (अतः हे सुन्दरी) रुक जाओ, प्रसन्न हो जाओ।

इस उदाहरण में यौवनक्षय रूप उपमेय का चन्द्रक्षयरूप उपमान से आधिक्य बताने के कारण व्यतिरेक अलंकार है।

अप्रस्तुप्रशंसा अलंकार

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।

जब अप्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा (वर्णन) से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो, वहां अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है यथा-

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः।।

अपमान होने पर भी स्वस्थ रहने वाले (क्रोध न करने वाले, अपराधी को दण्ड न देने वाले) मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो पैरों से ठोकर मारी जाने पर उठ कर सर पर चढ़ जाती है।

इस उदाहरण में बलभद्र श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि शिशुपाल के अपमानों को सहकर भी निष्क्रिय बैठे रहने वाले हम लोगों से तो धूल भी अच्छी है। यह विशेष यहां प्रस्तुत है। परन्तु सामान्य (देही) का कथन करने से उक्त विशेष गम्य है।

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सम्बन्ध पांच प्रकार से हो सकता है- 1. कार्य से कारण की प्रतीति; 2. कारण से कार्य की प्रतीति; 3. सामान्य से विशेष की प्रतीति; 4. विशेष से सामान्य की प्रतीति; 5. अप्रस्तुत समान से प्रस्तुत समान की प्रतीति।

निदर्शना अलंकार

........निदर्शना। अभवन्वस्तुसंबंधः उपमापरिकल्पकः।

जहां वस्तु का असम्भव अथवा अनुपपद्यमान सम्बन्ध (प्रकृत का अप्रकृत के साथ) उपमा में परिकल्पित अथवा पर्यवसित होता हो वहां निदर्शना नामक अलंकार होता है।

निदर्शना के दो भेद कहे गए हैं- **वाक्यार्थ निदर्शना तथा पदार्थनिदर्शना।**

वाक्यार्थ निदर्शना-

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडपेनास्मि सागरम्।

कहां सूर्य से उत्पन्न वंश तथा कहां मेरी अल्पज्ञ बुद्धि ? अज्ञान के कारण मैं छोटी डोंगी के द्वारा समुद्र पार करने का इच्छुक हूं।

मेरी क्षुद्र बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन करना छोटी डोंगी के दुस्तर समुद्र पार करने के समान है- श्लोक के दोनों वाक्यार्थ का पर्यवसान इस उपमा में हुआ है। श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूप दो वाक्यों में उपमानोपमेय भाव हो जाता है। अतः निदर्शना अलंकार है।

पदार्थनिदर्शना–

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्।

ऊपर को उठती फैलती हुई किरणों वाला सूर्य उदय हो रहा है और चन्द्रमा अस्त हो रहा है। इस प्रकार एक ओर सूर्य और दूसरी ओर चन्द्रमा को धारण किए हुए यह पर्वत दोनों ओर लटकते हुए घण्टों से युक्त हाथी की लीला को धारण कर रहा है।

इस उदाहरण में उपमान हाथी की शोभा उपमेय पर्वत कैसे धारण कर सकताहै? इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध अनुपपन्न हो जाता है। किन्तु फिर 'यह पर्वत हाथी के समान शोभा धारण करता है' इस उपमा में दोनों पदार्थ पर्यवसित हो जाते हैं अत: निदर्शना अलंकार है।

विभावना अलंकार

क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। (काव्यप्रकाश)
विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।। (साहित्यदर्पण)

जब बिना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो विभावना अलंकार होता है। यथा–

अनायासकृशं मध्यमशंकतरले दृशौ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुव:।।

यौवन में सुन्दर भौंहो वाली (नायिका) की कटि बिना श्रम के कृश है, नेत्र बिना शंका के ही चंचल है और शरीर बिना आभूषणों के ही मनोहर है।

इस उदाहरण में श्रम रूप कारण के बिना ही कटि के कृश होने रूपी कार्य हो रहा है। इसी प्रकार बिना शंका रूपी हेतु के नेत्रचंचलतारूपी कार्य तथा आभूषण रूपी हेतु के बिना ही शरीर की मनोहारिता रूपी कार्य का वर्णन होने से विभावना अलंकार है।

विशेषोक्ति अलंकार

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच:। (काव्यप्रकाश)
सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा। (साहित्यदर्पण)

कारण के होते हुए भी कार्य या फल के न होने पर विशेषोक्ति अलंकार होता है। विश्वनाथ ने विशेषोक्ति के दो भेद कहे हैं– उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता। किन्तु मम्मट ने अचिन्त्यनिमित्ता नामक एक तीसरा भेद भी कहा है।

उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे।।

कपूर की भांति भस्म हो जाने पर भी जो जन जन में शक्तिसम्पन्न है, उस अविनष्ट पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

शरीर भस्म हो जाना शक्ति नष्ट हो जाने का कारण होता है। किन्तु यहां शरीर रूपी कारण नष्ट हो जाने पर भी शक्ति-नाश रूपी कार्य नहीं हुआ है और इसके लिए निमित्त 'अवार्यवीर्यत्व' भी कहा गया है। अत: यहां उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति-

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजंगे चचालनाऽलिंगनतोऽगना सा।।

नींद खुल जाने पर, सूर्य उदित हो जाने पर, सखियों के (शयनकक्ष) द्वार पर पहुंच जाने पर, तथा जार (भुजंग, उपपति) के द्वारा आलिंग्न रस को शिथिल कर देने पर भी वह स्त्री आलिंगन से विचलित नहीं हुई।

इस उदाहरण में निद्रा निवृत्ति, सूर्य उदय आदि कारणों के होने पर भी आलिंगनत्यागरूपी कार्य का अभाव है और इसके लिए कोई निमित्त भी नहीं दिया गया। अत: यहां अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है।

अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति-

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम्।।

पुष्पों के आयुध वाला वह (कामदेव) अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है, जिसके शरीर का हरण करके भी शिव (उसके) बल/ शक्ति को नहीं हर (नष्ट कर)सके।

इस उदाहरण में शरीरनाश रूपी कारण होने पर भी बलनाश रूपी कार्य नहीं हुआ और उसके लिए कोई निमित्त भी नहीं सोचा जा सकता; अत: अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है।

यथासंख्य अलंकार

यथासंख्य क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।

जब क्रम से कहे पदार्थों का उसी क्रम से अन्य पदार्थों से समन्वय हो तो यथासंख्य अलंकार होता है यथा:

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव! द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च।।

हे देव! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों और मृगनयनियों के मन में (क्रमशः) शौर्य की ऊष्मा से सन्ताप, विनय के द्वारा आनन्दरस तथा लीला के द्वारा रति उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहते हैं, इसमें (बहुत) आश्चर्य है।

इस उदाहरण में द्वितीय चरण के द्विषां, विदुषां, मृगीदृशां का तृतीय चरण में आए हुए तापं, सम्मदरसं, रति से तथा चतुर्थ चरण में आए हुए शौर्योष्मणा, विनयेन, लीलया के साथ उसी क्रम से अन्वय हो रहा है अतः यथासंख्य अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

जब सामान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है तब वह अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह समर्थन साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से हो सकता है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलंकार चार प्रकार का होता है।

विशेष के द्वारा साधर्म्य से सामान्य का समर्थन- यथा

वृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगाः।।

बड़े की सहायता से युक्त छोटा व्यक्ति भी कार्य पूर्ण कर लेता है। बड़ी नदी से मिल कर पहाड़ी (छोटी) नदी भी समुद्र तक पहुंच जाती है।

इस उदाहरण में पूर्वार्ध में सामान्य कथन है; उसका कथन साधर्म्य द्वारा विशेष घटना से किया गया है; अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

सामान्य के द्वारा साधर्म्य से विशेष का समर्थन-यथा-

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः।।

उपयुक्त अर्थ और पदों से युक्त ऐसी वाणी बोलकर श्रीकृष्ण चुप हो गए। महान् लोग स्वभाव से ही परिमित वाणी वाले होते हैं।

इस उदाहरण के पूर्वार्ध में विशेष कथन है, उसका कथन साधर्म्य द्वारा सामान्य कथन से किया गया है अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

विशेष के द्वारा वैधर्म्य से सामान्य का समर्थन- यथा

गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः।

गुणों के ही दौरात्म्य के कारण उत्तम पुरुष सदा कार्य में जोता जाता है। जिसके कन्धे पर जुआ न रखने से किण उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा दुष्ट बैल सुख से सोता है।

इस श्लोक के पूर्वार्ध में सामान्य कथन है कि 'गुणवान पुरुष सदा ही कार्य में लगा दिए जाते हैं।' उत्तरार्ध में दुष्ट बैल के सुखपूर्वक सोने रूपी विशेष कथन के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। अतः अर्थान्तन्यास अलंकार है।

स्वभावोक्ति अलंकार

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

बालक आदि की (स्वाभाविक) क्रियाओं अथवा रूप (वर्ण एवं अंग संस्थान) का वर्णन स्वाभावोक्ति अलंकार है। यथा-

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।।

पीछे पीछे आते हुए रथ पर ग्रीवा के मनोहर मोड़पूर्वक दृष्टि लगाए हुए, बाण (शरीर में) लग जाने के भय से शरीर के पिछले आधे भाग से शरीर के आगे के भाग में प्रविष्ट सा हुआ, थकान से खुले मुख से गिरते हुए आधे चबाए कुशों से भरे मार्ग वाला (यह मृग) ऊंची उछालों के कारण आकाश में अधिक और पृथिवी पर कम जा रहा है- यह देखो।

इस श्लोक में शिकारी द्वारा पीछा किए जाते हुए मृग की स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन होने से स्वाभावोक्ति अलंकार है।

काव्यलिंग अलंकार

काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता।

जब कविकल्पित अर्थ के उपपादन के लिए हेतु (लिंग) का कथन हो, वहां काव्यलिंग अलंकार होता है। वाक्यार्थ अथवा पदार्थ का हेतु रूप में कथन करना काव्यलिंग अलंकार है।

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।

येऽपि त्वदगमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता
स्त्वसादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते।।

हे प्रिये! तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाले नील कमल पानी में डूब गए। तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाले चन्द्रमा को मेघों के द्वारा ढक लिया गया है। जो तुम्हारी गति के समान गति वाले राजहंस थे, वे भी चले गए। भाग्य के द्वारा तुम्हारे सादृश्य का विनोद मात्र भी नहीं सहा जाता।

इस श्लोक में प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ चौथे चरण के वाक्यार्थ के हेतुरूप होने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

प्रतीप अलंकार

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।।

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाना अथवा उपमेय के सम्मुख उपमान की निष्फलता बताना प्रतीप अलंकार है।

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाने का उदाहरण काव्यलिंग अलंकार के उदाहरण से स्पष्ट है जहां नेत्र को उपमान और नीलकमल को उपमेय बना दिया गया है। अन्यथा सामान्यतः नेत्र उपमेय के लिए नीलकमल उपमान होता है। -अन्यत्र-

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा, हा हेम सा चेद् द्युतिः-
स्तच्छक्षुर्यदि हारितं कुवलयै स्तच्चेत्स्मितं का सुधा।
धिक्कन्दर्पधनुभ्रुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः।।

यदि वह मुख है तो चन्द्रमा की बात समाप्त हुई; यदि वह कान्ति है तो हाय सुवर्ण। यदि वे नेत्र है तो नीलकमल हार गए, अगर वह मुस्कुराहट है तो फिर अमृत भी क्या है? यदि वे दोनो भौंहे है तो कामदेव के धनुष को धिक्कार है। अधिक क्या कहें, यह सच है कि ब्रह्मा की सृष्टि का क्रम रची गई वस्तु से पुनः विमुख रहता है (एक वस्तु के सदृश दूसरी वस्तु पुनः नहीं रची जाती।)

इस श्लोक में शशि, स्वर्ण, कुवलय, सुधा, कामधनुष, आदि प्रसिद्ध उपमानों को क्रमशः मुख, द्युति, चक्षु, स्मित,भ्रू आदि उपमेयों के समक्ष निष्फल सिद्ध करने के कारण वह प्रतीप अलंकार का उदाहरण है।

एकावली अलंकार

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।।

पूर्व पूर्व (पहले आई हुई) वस्तु के प्रति उत्तर उत्तर (बाद में आई हुई) वस्तु विशेषण रूप से स्थापित की जाए अथवा हटाई जाए तो यह दो प्रकार का एकावली अलंकार होता है। यथा-

पुराणि यस्यां सवरांगनानि वरांगना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासं अस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य।।

जिस (नगरी) में घर सुन्दरियों से युक्त हैं, सुन्दरियां रूपयुक्त अंगो वाली हैं; रूप प्रकट होते विलास से युक्त है और विलास कामदेव के अस्त्र हैं।

यहां प्रथम चरण में पहले आए 'पुराणि' का विशेषण बाद में आया वरांगना है। वरांगना का विशेषण रुपयुक्त अंग है; रूप का विशेषण प्रकटित विलास है तथा विलास का विशेषण कामदेव-अस्त्र है। अतः पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप में उत्तर उत्तर के स्थापित किए जाने से यह पहले प्रकार का एकावली अलंकार है।

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ कलगुंजितो न यो न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः।।

ऐसा कोई सरोवर नहीं था जिसमें सुन्दर कमल न हो; ऐसा कोई कमल नहीं था जिसमें भ्रमर नहीं बैठे थे; ऐसा भ्रमर नहीं था जो मधुर गुंजार न कर रहा हो और ऐसा गुंजन नहीं था जो मन को न हर लेता हो।

इस उदाहरण में पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर उत्तर वस्तु का अपोह होते जाने से दूसरे प्रकार का एकावली अलंकार है।

शब्द एवं अर्थ में चारुता उत्पन्न करने वाले प्रमुख अलंकारों के अतिरिक्त यदि ये परस्पर सम्मिश्रित हो कर काव्य में आएं तो भी वहां और अलंकार हो जाते हैं।

यद्येत एवालंकाराः परस्परविमिश्रिताः।
तदा पृथगलंकारौ संसृष्टिः संकरस्तथा।।

जब ये ही अलंकार आपस में मिले हुए हो, तो वहां संसृष्टि और संकर नामक पृथक् पृथक् दो अलंकार होते हैं।

संसृष्टि अलंकार

मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितः संसृष्टिरुच्यते।

शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की जब परस्पर निरपेक्ष भाव से एकत्र अवस्थिति हो, तो वहां संसृष्टि अलंकार होता है।

संसृष्टि अलंकार तीन प्रकार का होता है- यथा-

शब्दालंकार सृष्टि- जब एक छन्द में दो या अधिक शब्दालंकार परस्पर

निरपेक्ष भाव से स्थित हो तो उसे शब्दालंकारसंसृष्टि मानना चाहिए। यथा-

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया।

मुख की सुगन्धि के लोभ से मंडराते हुए भ्रमरों के सम्भ्रम से अधिक शोभायुक्त, इधर उधर दौड़ती हुई तथा गिरते केशपाश से चंचल नेत्रों वाली के द्वारा सुन्दर मेखला का कलनाद धारण किया गया।

श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'म' के अनेक बार प्रयोग के कारण अनुप्रास अलंकार है तथा उत्तरार्ध में 'लकलो, लकलो' की आवृत्ति से यमक अलंकार है। इन दोनों शब्दालंकारों की स्थिति इस छन्द में परस्पर निरपेक्ष होने के कारण संसृष्टि अलंकारहै।

अर्थालंकार संसृष्टि- जब दो या अधिक अर्थालंकारों की परस्पर निरपेक्ष भाव से एक अवस्थिति हो, तो अर्थालंकारसंसृष्टि अलंकार होता है। यथा-

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अन्धकार अंगों को मानो लीप रहा है, आकाश काजल की मानो वर्षा कर रहा है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गई है।

इस उदाहरण के पूर्वार्ध में उत्प्रेक्षा अलंकार तथा उत्तरार्ध में उपमा अलंकार की परस्पर निरपेक्ष भाव से स्थिति होने के कारण संसृष्टि अलंकार है।

शब्दार्थालंकारसंसृष्टि अलंकार- जब शब्दालंकार और अर्थालंकार की परस्पर निरपेक्ष एकत्र अवस्थिति हो तो शब्दार्थालंकारसंसृष्टि अलंकार होता है यथा-

स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम्।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमानां निवारयति।।

इस ग्राम में ऐसा कोई नहीं है जो निखरते हुए लावण्य वाली, युवकों के हृदय को लूट लेने वाली (स्त्री) को रोक सके।

पूर्वार्ध में अनुप्रास शब्दालंकार तथा उत्तरार्ध में 'हृदयलुण्ठाकी' में रूपक अर्थालंकार की निरपेक्ष स्थिति के कारण संसृष्टि अलंकार है।

संकर अलंकार

अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः।

अपने स्वरूप में विश्रान्त न होने वाले अलंकारों का अंगागिभाव होने पर संकर अलंकार होता है। अब तक कहे गए अलंकार जब स्वतन्त्र रूप से अपने स्वरूप मात्र में स्थित नहीं होते, तथा परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को प्राप्त हो जाते हैं, वहां

इनके स्वरूप एक दूसरे के साथ संकीर्ण हो जाने से संकर अलंकार होता है- यथा-

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटंकपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन्! गुंजाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति।।

हे राजन्! (आपके भय के कारण) वनों में भागती हुई आपके शत्रुओं की मृगनयनी स्त्रियों के मरकत मणि युक्त शिरोभूषण ले लेने पर, सोने के कर्णाभूषण छीन लेने पर, करधनी तोड़ लेने पर, मणि जटित दोनों नुपूर भी ले लेने पर शबर जन कुंदरू के सदृश लाल ओठों की कान्ति से लाल दिखाई देती सफेद मोती की माला को गुंजा (घुंघची) की माला समझ कर नहीं छीनते।

इस उदाहरण के चतुर्थ चरण में 'ओठों की लाल कान्ति से सफेद मौक्तिक हार भी लाल जान पड़ता है-ये तद्गुण अलंकार है। इस तद्गुण अलंकार के कारण 'हार में गुंजाफल माला' की भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है अत: भ्रान्तिमान् अलंकार है। अत: यहां पर दो अलंकारों में अंगागिभाव होने से संकर अलंकार है।

आचार्यों द्वारा अलंकारों की उद्भावना, विकास और विस्तार के कारण अलंकारों की संख्या बढ़ती ही गई- यह कहा जा चुका है। इतने अलंकारों में अनेक अलंकारों में ऐसी समानता सी दृष्टिगोचर होती है कि विशेषत: नवशिक्षित अथवा छात्रों को उनके पारस्परिक भेद समझ ही नहीं आते। वस्तुत: सादृश्यगर्भ अलंकारों में यह स्थिति अधिक होती है। उपमा अलंकार को सभी सादृश्यमूलक अलंकारों का प्राण कहा गया था। उसी सादृश्य की कल्पना को तनिक विस्तृत रूप प्रदान करने से नए नए अलंकार जन्म लेते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस सिद्धान्त को उदाहरणों के द्वारा बहुत सरलता से समझाया है।

"(1) चन्द्रमा के समान मुख है- **उपमा** (सादृश्य के कारण)
(2) चन्द्रमा के समान मुख और मुख समान चन्द्रमा- **उपमेयोपमा**
(3) मुख मुख के समान- **अनन्वय**
(4) मुख के समान चन्द्रमा -(उपमान) **प्रतीप**
(5) चन्द्र को देखकर मैं मुख का स्मरण करता हूं- **स्मरण**
(6) मुख ही चन्द्रमा है- **रूपक** (अभेद)
(7) मुखचन्द्र से ताप शान्त होता है **परिणाम**
(8) क्या यह मुख है अथवा चन्द्रमा- (सन्देह)
(9) यह चन्द्रमा ही है, मुख नहीं- **अपह्नुति**

(10) चकोरगण तुम्हारे मुख को चन्द्रमा समझ कर उसकी ओर दौड़ते हैं- **भान्तिमान्** (मुख में चन्द्रमा का भ्रम)

(11) तुम्हारे मुख में चकोर चन्द्रमा समझकर और भ्रमर कमल समझ कर स्मरण करते हैं- **उल्लेख** (एक ही स्थल भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न कल्पना)

(12) मुख निश्चय ही चन्द्रमा है- **उत्प्रेक्षा** (उपमान की सम्भावना)

(13) यह चन्द्रमा है- **अतिशयोक्ति** (केवल उपमान की स्थिति)

(14) मुख के द्वारा चन्द्रमा और कमल जीते गए- **तुल्ययोगिता**

(15) रात में चन्द्रमा और तुम्हारा मुख दोनों प्रसन्न होते हैं- **दीपक**

(16) तुम्हारे मुख ही से मैं प्रसन्न हूं और चन्द्रमा ही से चकोर प्रसन्न है- **प्रतिवस्तूपमा**

(17) आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर तुम्हारा मुख- **दृष्टान्त**

(18) मुख चन्द्र लक्ष्मी को धारण करता है- **निर्दशना**

(19) निष्कलंक मुख चन्द्रमा से बढ़कर है- **व्यतिरेक**''

उपर्युक्त सारे अलंकार सादृश्य की भावना पर प्रतिष्ठित है। उपमा के सदृश सभी में सादृश्य है और मूल में उपमा है। इसी महत्ता के कारण अप्पय दीक्षित ने उपमा अलंकार की तुलना ब्रह्म से की है।''जिस प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह चित्र-विचित्र संसार ज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से समस्त अलंकार ज्ञात हो जाते हैं।

कतिपय अलंकारों में परस्पर भेद

1. **उपमा अनन्वय का भेद-** 1. उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान पृथक् पृथक् होते हैं, किन्तु अनन्वय अलंकार में एक ही वस्तु उपमेय और उपमानरूप में वर्णित होते हैं।

   2. उपमा में उपमेय-उपमान का साधर्म्य होता है, अनन्वय में उपमेय से भिन्न अन्य किसी भी सदृश वस्तु की व्यावृत्ति रहती है।

2. **उपमा-उपमेयोपमा का भेद-** उपमा अलंकार में उपमेय तथा उपमान का साधर्म्य वर्णित है और वह एक वाक्य में होता है। उपमेयोपमा अलंकार में दो वाक्य होते हैं और उनमे उपमेय तथा उपमान का विपर्यास हो जाता है। (पहले वाक्य के उपमेय और उपमान दूसरे वाक्य में क्रमशः उपमान तथा उपमेय हो जाते हैं।)

3. **उपमा तथा उत्प्रेक्षा का भेद-** (1)उपमा अलंकार में उपमेय-उपमान सादृश्य वर्णित होता है, उत्प्रेक्षा अलंकार में उपमेय में उपमान की सम्भाव

की जाती है।

(2) उपमा में उपमेय-उपमान का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उत्प्रेक्षा में संशयात्मक ज्ञान होता है।

(3) उपमा में 'इव' शब्द का प्रयोग संज्ञापद के साथ होता है, उत्प्रेक्षा में इव शब्द का प्रयोग प्राय: क्रिया पद के साथ किया जाता है।

(4) उपमा में उपमेय के साथ उपमान की वास्तविक सत्ता होती है; उत्प्रेक्षा में उपमान काल्पनिक होता है।

4. **उपमा तथा रूपक का भेद** (1) उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान के साधर्म्य का वर्णन किया जाता है और रूपक अलंकार में साधर्म्य के कारण उपमेय पर उपमान का अभेदारोप कर दिया जाता है।

(2) उपमा में साधर्म्य वाच्य होता है और रूपक में साधर्म्य व्यंग्य रहता है।

5. **उपमा तथा प्रतिवस्तूपमा का भेद**- (1) उपमा अलंकार में दो पदार्थों का साधर्म्य वर्णित होता है, प्रतिवस्तूपमा अलंकार में दो वाक्यार्थों का साम्य प्रदर्शित होता है।

(2) उपमा में सादृश्य वाच्य होता है, प्रतिवस्तूपमा में वह गम्य होता है।

(3) उपमा में एक ही वाक्य से साम्य प्रदर्शित कर दिया जाता है, प्रतिवस्तूपमा में साम्य दो वाक्यों के द्वारा प्रदर्शित होता है।

6. **उपमा तथा दृष्टान्त का भेद**- उपमा अलंकार में उपमेय और उपमान का एक साधारण धर्म होता है और उसका कथन भी एक ही बार होता है। दृष्टान्त अलंकार में साधारण धर्म की तुल्यता होने पर भी भिन्न-भिन्न वाक्यों में उसका भिन्न भिन्न शब्दों से कथन होता है।

7. **उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति का भेद**- (1) उत्प्रेक्षा अलंकार मे अध्यवसाय साध्य होने के कारण उपमेय का शब्दत: ग्रहण होता है। अतिशयोक्ति अलंकार में अध्यवसाय सिद्ध होने के कारण उपमेय का शब्दत: ग्रहण नहीं होता, अपितु उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण कर लिया जाता है।

(2) उत्प्रेक्षा में उत्कटकोटिक संशय होता है;अतिशयोक्ति में संशय का अभाव होता है।

8. **अतिशयोक्ति तथा रूपक का भेद**- (1) अतिशयोक्ति अलंकार में उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण हो जाता है। रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का अभेदारोपण होता है।

(2) अतिशयोक्ति में अध्यवसाय के द्वारा उपमेय में उपमान के अभेद की कल्पना की जाती है, रूपक में उपमय-उपमान का तादात्म्य वर्णित होता है।

9. **रूपक और निदर्शना का भेद** (1) रूपक अलंकार में उपमेय में उपमान का ताद्रूप्यारोप होता है। निदर्शना अलंकार में प्रकृत का अप्रकृत के साथ अनुपपद्यमान संबंध उपमा में पर्यवासित हो जाता है।
(2) रूपक एक वाक्य में होता है; निदर्शना में असम्बद्ध से दिखते परस्पर सापेक्ष दो वाक्य होते हैं।

10. **रूपक तथा अपह्नुति का भेद** (1) रूपक अलंकार में उपमेय का निषेध नहीं होता। अपह्नुति अलंकार में उपमेय का निषेध किया जाता है।
(2) रूपक में उपमेय उपमान दोनों का स्वरूप रहता है, अपह्नुति में उपमेय के निषेधपूर्वक उपमान की स्थापना होती है।

11. **दृष्टान्त तथा निदर्शना का भेद**- दृष्टान्त अलंकार में दो वाक्य परस्पर स्वतन्त्र होकर भी उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है। निदर्शना अलंकार में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं।

12. **प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना में भेद**- इन दोनों अलंकारों में सादृश्य गम्य होता है। (1) प्रतिवस्तूपमा अलंकार में दोनों वाक्यों के अपने अपने अर्थ में निरपेक्षता होती है; निदर्शना में दोनों में सापेक्षता होती है।
(2)प्रतिवस्तूपमा में साधारण धर्म दोनों वाक्यों में भिन्न भिन्न शब्दों में कथित होता है; निदर्शना में साधारण धर्म का आक्षेप करना होता है।

13. **प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त का भेद**- प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में एक ही साधारण धर्म होता है जो भिन्न भिन्न शब्दों में कहा जाता है। दृष्टान्त में दोनों वाक्यों में साधारण धर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं किन्तु उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है।

14. **तुल्ययोगिता तथा दीपक का भेद**- (1) तुल्ययोगिता अलंकार में केवल प्रस्तुत या केवल अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध होता है। दीपक अलंकार में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म का सम्बन्ध होता है।
(2) तुल्ययोगिता में प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों में उपमेय उपमान भाव नहीं होता। दीपक में प्रकृत पदार्थ उपमेय रूपमें तथा अप्रकृत पदार्थ उपमान रूप में वर्णित होते हैं।

15. **अर्थान्तरन्यास तथा निदर्शना में भेद**- अर्थान्तरन्यास अलंकार में दोनों वाक्यों में आधारभूत कार्यकारणभाव भिन्न भिन्न होता है। निदर्शना अलंकारमें

यह भाव एक ही होता है।

16. **अर्थान्तरन्यास तथा प्रतिवस्तूपमा में भेद**- (1) अर्थान्तरन्यास अलंकार में एक अर्थ विशेष रूप से और दूसरा अर्थ सामान्य रूप से वर्णित होते हैं। प्रतिवस्तूपमा में दोनों अर्थ सामान्य रूप में वर्णित होते हैं।

(2) अर्थान्तरन्यास के दोनों वाक्यों में समर्थ्य-समर्थक भाव होता है। प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में उपमान-उपमेय भाव होता है।

17. **अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त में भेद** - (1) अर्थान्तरन्यास अलंकार में एक अर्थ सामान्य रूप में और दूसरा अर्थ विशेष रूप में वर्णन किए जाते हैं। दृष्टान्त अलंकार में दोनों ही अर्थों का सामान्य रूप अथवा विशेष रूप में वर्णन होता है।

(2) अर्थान्तरन्यास में दोनों अर्थों में समर्थ्य समर्थक भाव होता है; दृष्टान्त में दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव प्रदर्शित होता है।

18. **भ्रान्तिमान् और सन्देह में भेद**- (1) भ्रान्तिमान् अलंकार में भ्रान्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है; सन्देह अलंकार में संशय का चमत्कारजनक वर्णन होता है।

(2) भ्रान्तिमान् में उपमेय उपमान रूप में जाना जाता है; सन्देह में उपमान उपमेय की पृथकता ज्ञात होती है।

19. **प्रतीप तथा व्यतिरेक का भेद** (1) प्रतीप अलंकार का आधार है उपमान का तिरस्कार और व्यतिरेक में अलंकार का आधार है उपमेय का आधिक्य वर्णन।

20. **विभावना एवं विशेषोक्ति का भेद**- विभावना अलंकार में हेतु के बिना भी कार्य की उत्पत्ति होती है। विशेषोक्ति अलंकार में हेतु रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

21. **संसृष्टि एवं संकार का भेद**- संसृष्टि अलंकार में विभिन्न अलंकार परस्पर निरपेक्ष रूप में एकत्र अवस्थित होते हैं। संकर अलंकार में दो या अधिक अलंकार परस्पर साक्षेप रूप में अंगागिभाव को प्राप्त होते हैं।

OOO

छन्द विचार

छन्द काव्य का आह्लादक तत्त्व है। काव्यशास्त्र के किसी भी प्रमुख आचार्य ने ग्रन्थ में छन्द विचार नहीं किया है; किन्तु छन्द से काव्य का रूप निखर अवश्य जाता है। छन्द के द्वारा काव्य का उत्कर्ष होता है या उसके अभाव में काव्य का अपकर्ष हो जाता है- यह तो निचय ही विवादास्पद विषय है; किन्तु छन्द के सुष्ठु प्रयोग से काव्य का आकर्षण बढ़ अवश्य जाता है। वस्तुतः छन्द एक प्रकार की काव्य व्यवस्था भी है, जिसमें वर्ण, मात्रा, लघु, गुरु, यति आदि की व्यवस्था का विधान होता है। आचार्य भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय का नाम ही छन्दोविधान रखा है तथा उस अध्याय में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत लघु, गुरु वर्णों, त्रिक (गण) तथा वैदिक छन्दों का कथन किया है।

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को रचना प्रकार की दृष्टि से आपाततः दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है- गद्य एवं पद्य। साहित्य रूपी शकट की गतिशीलता के लिए गद्य और पद्य दो पहिए के सदृश हैं; किन्तु फिर भी संस्कृत भाषा के साहित्य में पद्य का ही अधिकांश प्रयोग मिलता है। इस कारण सहजगम्य है- पद्य को स्मरण रखना अपेक्षाकृत सरल है। गद्य कठिता से स्मरण रखा जाता है- छन्द के कारण ही पद्य बनता है। छन्द की इसी महत्ता के कारण छन्द की गणना वेदांगों में की गई। छन्दों को वेदपुरुष का चरण कहा गया हैं- ''**छन्दः पादौ तु वेदस्य**'' (पाणिनीय शिक्षा 41) भारत की प्राचीन आर्षपरम्परा कहती है कि छन्द के बिना वाणी ही उच्चरित नहीं होती- ''**नाच्छन्दसि वागुच्चरति**'' (दुर्गाचार्य, निरुक्तवृत्ति)। छन्द से रहित शब्द नहीं है और शब्द से रहित छन्द नहीं है।''**छन्दहीनो न शब्दोऽस्ति, न छन्दः शब्दवर्जितम्।**'' (भरत नाट्यशास्त्र 14/45)

छन्द की परिभाषा- 'छन्दांसि छादनात्'- के अनुसार ये वेदों के आवरण हैं अर्थात् छन्द वेदों को ढकने के साधन हैं। आचार्य पिंगल के द्वारा रचा गया ग्रन्थ **छन्दः सूत्र** इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में वैदिक छन्दों

का विवेचन किया गया है तथा उत्तर भाग में लौकिक छन्दों का विश्लेषण है। वैदिक छन्दों की संख्या पर्याप्त कम है। उनकी मुख्य विशेषता यह थी कि वे केवल अक्षरों की गणना पर नियत रहते हैं; उनमें गुरु तथा लघु वर्णों के किसी क्रम या संख्या का कोई बन्धन नही होता। लौकिक छन्द का स्वरूप वैदिक छन्द से बिल्कुल ही भिन्न है। लौकिक छन्दों में गुरु लघुवर्णों, मात्राओं, यतियों आदि पर विशेष ध्यान दिया/ रखा जाता है। और ऐसी ही छन्दोबद्ध रचना पद्य कहलाती है।

संस्कृत में प्रत्येक पद्य के चार भाग होते हैं, जिन्हें चरण या पाद कहा जाता है। प्रत्येक चरण या पाद की रचना एक निश्चित क्रम में अक्षरों से होती है अथवा मात्राओं से। इसी आधार पर लौकिक छन्द भी दो प्रकार के होते हैं- वर्णिक छन्द तथा मात्रिक छन्द। छन्दों की परिभाषा तथा उदाहरण जानने से पूर्व छन्द शास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्दों का वास्तविक अर्थ जानना आवश्यक है।

अक्षर- छन्दः शास्त्र में शब्द के उस भाग को अक्षर कहते हैं, जिसे एक ही बार के उच्चारण में सरलता से बोला जा सके। यथा 'रामम्' पद में दो अक्षर हैं- 'रा' तथा 'मम्'। 'रामाणाम्' पद में तीन अक्षर हैं- 'रा', 'मा', 'णाम्'।

मात्रा- अक्षर के उच्चारण में लगने वाले समय के अंश से मात्रा की गणना की जाती है। ह्रस्व स्वर की एक मात्रा, दीर्घ स्वर की दो मात्राएं तथा प्लुत स्वर की तीन मात्राएं गिनी जाती हैं-

एकमात्रो भवेद्ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्द्धमात्रकम्।।

पाद अथवा चरण- पद्य अथवा श्लोक का एक चतुर्थांश पाद या चरण कहलाता है।

यति- किसी छन्द के चरण में यदि अधिक अक्षर हों तो उन्हें एक साथ कह पाना सरल नहीं होता; अतः बड़े छन्दों में एक, दो या तीन स्थानों पर तनिक सा विराम दे देने से पाठक की जिह्वा को विश्राम मिल जाता है। यह विराम ही यति कहलाता है। छन्दों की परिभाषा में यति के भी नियम बने हुए हैं। ग्यारह से चौदह अक्षरों वाले किसी किसी छन्द में ही यतिविधान है किन्तु पन्द्रह अक्षरों या अधिक अक्षरों वाले सभी छन्दों में यतिविधान अवश्य हुआ है।

लघु अक्षर- ह्रस्व स्वर हो अथवा व्यंजन में जब ह्रस्व स्वर जुड़ा हो तो वह लघु अक्षर होता है तथा छन्द में उसका निर्देश अक्षर के ऊपर खड़ी पाई (।) के चिह्न के रूप में होता है।

गुरु अक्षर- दीर्घ स्वर हो अथवा व्यंजन में जब दीर्घ स्वर जुड़ा हो तो वह गुरु

अक्षर होता है तथा छन्द में उसका निर्देश अक्षर के ऊपर अवग्रह (ऽ) के चिह्न के रूप में होता है।

दीर्घ स्वर के अतिरिक्त भी छन्द में कतिपय स्थितियों में लघु अक्षर को गुरु मान लिया जाता है।

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन।।

1. संयुक्त वर्ण से पूर्व वर्ण गुरु होता है, यथा- 'रामस्य' पद में 'म' में ह्रस्व अ (म् + अ) है अत: वह लघु वर्ण होना चाहिए। किन्तु वह संयुक्त वर्ण 'स्य' से पूर्व है। अत: संयुक्ताद्य होने के कारण 'म' गुरु अक्षर है।
2. अनुस्वार युक्त वर्ण गुरु अक्षर हो जाता है यथा 'गुरुं' में 'रुं'।
3. विसर्ग से युक्त वर्ण गुरु अक्षर होता है यथा- 'राम:' में 'म:'।
4. पाद के अन्त का वर्ण लघु होने पर भी छन्द की आवश्यकता के अनुकूल गुरु वर्ण माना जा सकता है।

गण- छन्द रचना में सुविधा की दृष्टि से तीन तीन अक्षरों के समूह को गण कहा जाता है। इस तीन अक्षर समूह- गण- में लघु और गुरु वर्णों की भिन्न भिन्न स्थितियों के आधार पर गणों की संख्या आठ हो जाती है-

1. मगण- इसमें तीनों अक्षर गुरु होते हैं।
2. नगण- इसमें तीनों अक्षर लघु होते हैं।
3. भगण- पहला अक्षर गुरु एवं अन्तिम दोनों अक्षर लघु होते हैं।
4. जगण- मध्य अक्षर गुरु तथा प्रथम एवं अन्तिम अक्षर लघु होते हैं।
5. सगण- अन्तिम अक्षर गुरु तथा प्रथम एवं मध्य अक्षर लघु होते हैं।
6. यगण- पहला अक्षर लघु एवं अन्तिम दोनों अक्षर गुरु होते हैं।
7. रगण- मध्य अक्षर लघु तथा प्रथम एवं अन्तिम अक्षर गुरु होते हैं।
8. तगण- अन्तिम अक्षर लघु एवं प्रथम तथा मध्य अक्षर गुरु होते हैं।

उपर्युक्त आठों गणों को निम्नांकित सूची के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

गण	**अक्षर सन्निवेश**	**गणचिह्न**	**उदाहरण**
मगण	तीनों गुरु	ऽ ऽ ऽ	रामाणाम्
नगण	तीनों लघु	। । ।	पिशुन
भगण	आदि में गुरु	ऽ । ।	यद्यपि
जगण	मध्य में गुरु	। ऽ ।	रमासु
सगण	अन्त में गुरु	। । ऽ	लतयो:

यगण	आदि में लघु	। ऽ ऽ	लतानाम्
रगण	मध्य में लघु	ऽ । ऽ	बालयो:
तगण	अन्त में लघु	ऽ ऽ ।	रामेण

गणों में लघु गुरु की नियत स्थिति को कण्ठस्थ रखने हेतु निम्नलिखित श्लोक परम उपयोगी है–

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्।।

अर्थात– भगण, जगण, सगण क्रमशः आदि, मध्य और अन्त में गुरु होते हैं। यगण, रगण, लगण, क्रमशः आदि, मध्य और अन्त में लघु होते हैं। मगण केवल गुरु तथा नगण केवल लघु होता है।

छन्द शास्त्र में इन आठों गणों के देवता, शुभाशुभ तथा फल पर भी पर्याप्त विचार हुआ है।

गण	**देवता**	**शुभाशुभ**	**फल**
मगण	पृथ्वी	शुभ	लक्ष्मी
नगण	स्वर्ग	शुभ	आयु
भगण	चन्द्रमा	शुभ	यश
जगण	सूर्य	अशुभ	रोग
सगण	वायु	अशुभ	देशाटन
यगण	जल	शुभ	वृद्धि
रगण	अग्नि	अशुभ	विनाश
तगण	आकाश	अशुभ	धनहानि

जाति– मात्राओं की गणना से होने वाली पद्य रचना जाति कहलाती है। इसी को मात्रिक छन्द भी कहा जाताहै।

वृत्त– लघु–गुरु अक्षरों की गणना से होने वाली पद्य रचना वृत्त कहलाती है। इसी को वर्णिक छन्द भी कहा जाता है। वृत्त तीन प्रकार के होते हैं–

1. समवृत्त– जिस वर्णिक छन्द के चारों चरणों में लघु गुरु अक्षरों का विन्यास समान हो, वह समवृत्त होता है।

2. अर्धसमवृत्त– जिस वर्णिक छन्द में प्रथम तथा तृतीय चरण एक प्रकार के हों, तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में लघु गुरु अक्षरों का विन्यास समान हो, वह अर्धसमवृत्त होता है।

3. विषम– जिस वर्णिक छन्द के चारों चरणों में लघु गुरु अक्षरों का विन्यास

भिन्न भिन्न होता है, वह विषम वृत्त होता है। संस्कृत साहित्य में विषम वृत्त का बहुत कम प्रयोग हुआ है।

संस्कृत काव्यों में कवियों ने अधिकांशत: समवृत्त में ही रचनाएं की हैं। बहुधा प्रयोग में आने वाले प्रचलित छन्द इस प्रकार हैं–

अनुष्टुप् (श्लोक)

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययो:।।

श्लोक या अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं। चारों ही चरणों में छठा अक्षर गुरु और पांचवा अक्षर लघु होता है। दूसरे और चौथे चरण में सातवां अक्षर ह्रस्व होता है। और पहले तथ तीसरे चरण में सातवां अक्षर गुरु होता है। यथा–

ा ऽ ऽ ाऽा
वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वागर्थप्रतिपत्तये।

ाऽ ऽ ा ऽा
जगत: पितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ।।

अन्य उदाहरण (1) **अकिंचिदपि कुर्वाण: सौख्यैर्दुखान्यपोहति।**
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जन:।।

(2) **अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।**
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

(3) **उत्पत्तिपरिपूताया: किमस्या: पावनान्तरै:।**
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यत: शुद्धिमर्हत:।।

इन्द्रवज्रा

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग:।

इन्द्रवज्रा छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं यथा क्रमश: तगण (ऽऽा), तगण (ऽऽा), जगण (ाऽा), गुरु (ऽ), गुरु (ऽ)– इस प्रकार अक्षर विधान होता है–

उदाहरण

ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।

अन्य उदाहरण

(1) भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।

(2) वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासी
लोकस्य किं तत् सदृशं कुलस्य।।

उपेन्द्रवज्रा

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

उपेन्द्रवज्रा छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं तथा जगण (। ऽ ।), तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।), गुरु (ऽ), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर विन्यास होता है।

(ध्यातव्य है कि इन दोनों छन्दों में वस्तुतः तनिक सा ही अन्तर है। इन्द्रवज्रा छन्द में चरण का प्रथम अक्षर गुरु होता है और उपेन्द्रवज्रा छन्द में चरण का प्रथम अक्षर ह्रस्व होता है। शेष अक्षर विन्यास समान है।) उदाहरण-

। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।।

अन्य उदाहरण

1. त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव।।

2. यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां
करिष्यतामाभरणान्तरत्वम्।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे
तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः।।

उपजाति

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

पहले जो दो छन्द- इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा- कहे गए हैं, उनके सम्मिलित चरणों वाला छन्द उपजाति छन्द कहलाता है। (अर्थात् उपजाति छन्द के चार चरणों में इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा छन्दों के एक + तीन अथवा दो + दो चरण होते हैं।)
उदाहरण-

S S I SS I I S I S S.
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्व
I S I S S I I S I S S
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
S S I S S I I S I S S
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
I S I S S I I S I S S
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

उपर्युक्त उदाहरण में प्रथम एवं तृतीय चरण इन्द्रवज्रा छन्द के है तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण उपेन्द्रवज्रा छन्द के हैं। इस पद्य में दोनों छन्दों के चरण सम्मिलित होने के कारण यह उपजाति छन्द है।

अन्य उदाहरण- 1. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः।।

2. असंभवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुसां मलिनी भवन्ति।।

रथोद्धता

रान्नाराविह रथोद्धता लगौ।

रथोद्धता छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरणमें ग्यारह वर्ण होते हैं तथा रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।), रगण (ऽ।ऽ), लघु (।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षरों का सन्निवेश होता है उदाहरण-

ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ । ऽ
शैशवात्प्रभृतिपोषितां प्रियां
सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्।
छद्मना परिददामि मृत्यवे
सौनिके गृहशकुन्तिकामिव।।

अन्य उदाहरण-

1. जीवयन्निव ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम्।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः।।

पुष्पिताग्रा

अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

पुष्पिताग्रा छन्द अर्धसमवृत्त है। इस छन्द के प्रथम तथा तृतीय चरण में बारह अक्षर होते हैं तथा नगण (।।।), नगण (।।।), रगण (ऽ।ऽ), यगण (।ऽऽ) इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में तेरह अक्षर होते हैं और नगण (।।।), जगण (।ऽ।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), गुरु (ऽ)- इस क्रम में अक्षर योजना होती है। उदाहरण-

।।। ।।। ऽ।ऽ ।ऽऽ
तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुः
।।। ।ऽ। ।ऽ ऽऽ।ऽऽ
विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुण प्रकाशः
शलभसमूह इवाश्रमद्रमेषु।।

अन्य उदाहरण- **अनियतरुदितस्मितं विराजत्**
कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।

वदनकमलकं शिशोः स्मरामि
स्खलदसमंजसमंजुजल्पितानि।।

शालिनी

शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोब्धिलोकैः।

शालिनी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं तथा मगण (SSS), तगण (SS।), तगण (SS।), गुरु (S), गुरु (S)- इस क्रम से अक्षरविन्यास होता है। इस छन्द में अब्धि (समुद्र = 4) और लोक (7) पर यति होती है उदाहरण

S S S S S । S S । S S
यत्सावित्रै,र्दीपितं भूमिपालै
लोकश्रेष्ठैः साधु चित्रं चरित्रम्।
मत्संबंधात्कश्मला किंवदन्ती
स्याच्चेदस्मिन्, हन्त! धिङ मामधन्यम्।।

अन्य उदाहरण- 1. **वीचीवातैः सीकरक्षोदशीतै**
राकर्षद्भिः, पद्मकिंजल्कगन्धान्।
मोहे मोहे, रामभद्रस्य जीवं
स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति।।

वंशस्थ

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

वंशस्थ छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में बारह अक्षर होते हैं तथा जगण (।S।),तगण (SS।), जगण (।S।), रगण (S।S)- इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। उदाहरण-

।S ।S S । ।S । S ।S
तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।

अन्य उदाहरण

1. सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।।

2. भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै
र्नवाम्बुभिर्दूरविलबिनो घनाः।
अनुद्धता सत्पुरुषाः समृद्धिभिः।
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।

द्रुतविलम्बित

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

द्रुतविलम्बित छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं तथा नगण (।।।), भगण (ऽ।।), भगण (ऽ। ।), रगण (ऽ।ऽ)- इस क्रम से अक्षरों का विन्यास होता है। उदाहरण-

।।।ऽ ।।ऽ। ।ऽ।ऽ
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्व ततः शरदां शतम्।।

अन्य उदाहरण

1. नवपलाशपलाशवनं पुरः
स्फुटपरागपरागतपंकजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्।
स सुरभिं सुरभिं सुमनोहरैः।।

2. शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः।।

भुजंग प्रयात

भुजंगप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः।

भुजंगप्रयात छन्द समवृत्त हैं। इसके प्रत्येक चरण में बारह अक्षर होते हैं तथा क्रमशः चार यगण (। ऽ ऽ) के क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। उदाहरण-

। ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽऽ । ऽ ऽ
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगतकर्तृ-पातृ-प्रदार्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्।।

अन्य उदाहरण-

सदारात्मजज्ञातिभृत्यो विहाय
स्वमेतं ह्रदं जीवनं लिप्समानः।
मया क्लेशितः कालियेत्थं कुरु त्वं।
भुजंग! प्रयातं द्रुतं सागराय।।

मंजुभाषिणी

सजसा जगौ भवति मंजुभाषिणी

मंजुभाषिणी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में तेरह अक्षर होते हैं तथा सगण (।। ऽ), जगण (। ऽ ।), सगण (।। ऽ), जगण (। ऽ ।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर-सन्निवेश होता है उदाहरण-

। । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । ऽ
समयः स वर्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत् सुमुखि! गौतमार्पितः।

अयमागृहीतकमनीयकंकण
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः।।

अन्य उदाहरण- **परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं**
दधती विलोलकबरीकमाननम्।

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी।।

वसन्ततिलका

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।

वसन्ततिलका छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरणमें चौदह अक्षर होते हैं तथा तगण (ऽऽ ।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), जगण (।ऽ।), गुरु (ऽ), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षरों का विन्यास होता है। उदाहरण-

ऽ । । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैःपुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।।

अन्य उदाहरण-

1. **जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं**
   मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
   चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
   सत्संगतिः कथय किं नकरोति पुंसाम्।।

2. **रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं**
   भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
   इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
   हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।।

3. **मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते**
   कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
   कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं
   किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।

मालिनी

ननमयययुतेयं, मालिनी भोगिलोकैः।

मालिनी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में पन्द्रह अक्षर होते हैं तथा नगण (।।।), नगण (।।।), मगण (ऽऽऽ), यगण (।ऽऽ), यगण (।ऽऽ)-इस क्रम से अक्षर विन्यास होता है। मालिनी छन्द में आठवें (भोगि= सर्प=आठ) तथा सातवें (लोक = सात) अक्षर के बाद यति होती है। उदाहरण-

। । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
अयममृतनिधानं, नायकोऽप्योषधीनां
शतभिषगनुयातः, शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः।
विरहयति न चैनं, राज्यक्ष्मा शशांकः
हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः।।

अन्य उदाहरण

1. वयमिह परितुष्टा, वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो, निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो, यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे, कोऽर्थवान् को दरिद्रः।।

2. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।

3. उदयति हि शशांकः, कामिनीगण्डपाण्डुः
ग्रहगणपरिवारो, राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये, रश्मयो यस्य गौराः
स्रुतजल इव पंके, क्षीरधाराः पतन्ति।।

पृथ्वी

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

पृथ्वी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं, तथा जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), यगण (।ऽऽ), लघु (।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। पृथिवी छन्द में आठवें (वसु= आठ) और नवें (ग्रह = नौ) अक्षर के बाद यति होती है। उदाहरण-

।ऽ। ।। ऽ।ऽ ।।।ऽ। ऽऽ। ऽ
अयं हि शिशु रेकको, मदभरेण भूरिस्फुरत्
करालकरकन्दली, जटिलशस्त्रजालैर्बलैः।
क्वणत्कनककिंकिणीझणझणायितस्यन्दनै
रमन्दमददुर्दिन, द्विरदडामरैरावृतः।।

अन्य उदाहरण

1. लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादये
न्नतु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।।

2. शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।

हरिणी

नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।

हरिणी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं तथा नगण (।।।), सगण (।। ऽ), मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ। ऽ), सगण (।। ऽ), लघु (।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर विन्यास होता है। हरिणी छन्द में क्रमशः छठे, चौथे (वेद = चार) और सातवें (हय= अश्व= सात) अक्षर के बाद यति होती है। उदाहरण-

।।।।।ऽ ऽऽऽऽ ।ऽ।।ऽ ।ऽ
वितरति गुरुः, प्राज्ञे विद्यां, यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिबिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः।।

अन्य उदाहरण

1. ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः।।

2. अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।

तनयमचिरात् प्राचीवार्क प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से! शुचं गणयिष्यसि।।

शिखरिणी

रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।

शिखरिणी छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में सत्रह वर्ण होते हैं तथा यगण (।ऽऽ), मगण (ऽऽऽ),नगण (।।।), सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।), लघु (।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। शिखरिणी छन्द में क्रमशः छठे (रस = छह) और ग्यारहवें (रुद्र= ग्यारह) अक्षर के बाद यति होती है। उदाहरण-

। ऽऽऽऽऽ ।।।।।ऽऽ।।।ऽ
अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं, मधुनवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां, फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं, कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।

अन्य उदाहरण

1. लताकुंजं गुंजन् मदवदलिपुंजं चपलयन्
समालिंगन्नंगं द्रुततरमनंगं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि।।

2. महाराज श्रीमन्, जगति यशसा ते धवलिते
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृत्
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना।।

3. तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव।।

मन्दाक्रान्ता

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्यम्।

मन्दाक्रान्ता छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में सत्रह वर्ण होते हैं तथा मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), तगण (ऽऽ।), तगण (ऽऽ।), गुरु (ऽ), गुरु (ऽ) इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। मन्दक्रान्ता छन्द में क्रमशः चौथे (अम्बुधि = समुद्र= 4), छठे (रस = छह) सातवें (नग = पर्वत = सात) अक्षर के बाद यति होती है। उदाहरण-

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा, स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा, वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे, जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं, रामगिर्याश्रमेषु।।

अन्य उदाहरण

1. **शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं**
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्।।

2. **पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धुनोत्यजस्त्रं**
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः ।।

शार्दूलविक्रीडित

सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

शार्दूलविक्रीडित छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में उन्नीस वर्ण होते हैं और मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), तगण (ऽऽ।), तगण (ऽऽ।), गुरु (ऽ)- इस क्रम से अक्षर विन्यास होता है। शार्दूलविक्रीडित छन्द में क्रमशः बारहवें (सूर्य= बारह) तथा सातवें (अश्व = सात) अक्षर के पश्चात् यति होती है। उदाहरण-

ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
केयूराः न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजा।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।

अन्य उदाहरण

1. यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजो यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

2. यद् धात्रा निज भालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं
तत् प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।
तद् धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्।

3. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्वस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते।।

स्रग्धरा

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

स्रग्धरा छन्द समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में इक्कीस अक्षर होते हैं तथा मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ।ऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), यगण (।ऽऽ), यगण (।ऽऽ) यगण (। ऽ ऽ)– इस क्रम से अक्षर सन्निवेश होता है। स्रग्धरा छन्द में क्रमशः सात, सात, सात (मुनि = सात) अक्षरों के बाद यति होती है। उदाहरण–

ऽ ऽऽ ऽ।ऽ ऽ ।।। ।। । ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ
या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं, या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा, या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया, प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।

अन्य उदाहरण–

1. स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलीं चान्दनैरिन्धनोघैः
सौवर्णैर्लांगूलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।
छित्वा कर्पूरखण्डान् वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्ता
त्प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।।

2. रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्।

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम्।।

जाति- जैसा पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि जिस पद्य में ह्रस्व तथा दीर्घ अक्षरों की मात्राएं गिनी जाती है, वह पद्य रचना 'जाति' कहलाती है। जाति का साधारण भेद 'आर्या' है। इसमें लघु अक्षर की एक मात्रा तथा गुरु अक्षर की दो मात्राएं गिनी जाती हैं।

आर्या

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या।।

आर्या छन्द के प्रथम तथा तृतीय चरण में बारह-बारह मात्राएं होती है। द्वितीय चरण में अठारह मात्राएं तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएं होती है। उदाहरण-

2 1 1 1 2 1 2 2 =12
गच्छति पुरः शरीर
2 1 1 2 2 1 2 1 2 2 2 = 18
धावति पश्चादसस्तुतं चेतः।
2 2 1 1 1 1 2 2 = 12
चीनांशुकमिव केतोः
1 1 2 2 2 1 2 2 2 = 15
प्रतिवातं नीयमानस्य।।

उदाहण 1 **दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।**
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

2. **आपरितोषाद्विदुषां, न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।**
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।

OOO

ISBN : 978-93-84406
9 789384 406
₹ 400.00